# न्याय:
# परिदृश्य और परिप्रेक्ष्य

प्रसन्न कुमार चौधरी

# प्रस्तावना

मानव समाज के शैशव-काल से न्याय का प्रश्न मानव जाति की आत्म-पहचान और उसके आत्म-संगठन का केन्द्रीय प्रश्न रहा है और बदलते स्वरूप में आज तक बना हुआ है. प्रकृति को जानने और उसे बदलने के जरिये जीवनयापन करने वाले मानव-जनों को न सिर्फ अपने और प्रकृति के बीच के सम्बन्धों को, बल्कि मानव-जनों के बीच के सम्बन्धों को भी परिभाषित करना पड़ा तथा उसे संस्थाबद्ध रूप देना पड़ा. जीवनयापन के तौर-तरीकों में आनेवाले परिवर्तनों के दौरान इन परिभाषाओं और संस्थाओं में भी समय-समय पर संशोधन-परिवर्धन-परिवर्तन होते रहे. बहरहाल, इन परिभाषाओं तथा संस्थाओं के केन्द्र में न्याय-अन्याय का प्रश्न ही प्रमुख रहा है.

आरम्भ से ही हर युग में वर्चस्वशाली-यथास्थितिवादी शक्तियां इस प्रश्न को दरकिनार कर, उसे ओझल कर किसी अन्य प्रश्न को सामने रखकर उसे ही व्यक्ति और मानव समाज का लक्ष्य बताती रही हैं. नस्लवाद, धार्मिक उन्माद, उग्र राष्ट्रवाद जैसी विभाजनकारी प्रवृत्तियों का हम समकालीन इतिहास में कई बार साक्षात् कर चुके हैं और उसके खतरनाक परिणामों को भुगत चुके हैं. आज देश-विदेश में इन प्रवृत्तियों का एक बार फिर आक्रामक उभार सहज ही रेखांकित किया जा सकता है.

एक और प्रवृत्ति है जो न्याय को विस्थापित कर खुशी (हैप्पीनेस) को लक्ष्य के रूप में अपनाने की वकालत करती है. लैंगिक, सामाजिक, वर्गीय अन्याय के विभिन्न रूपों की शिनाख्त करने, उनके खिलाफ संघर्ष करने, राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में न्याय को संस्थाबद्ध रूप देने और न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की जगह व्यक्ति के स्तर पर जो भी है तथा जितना भी है, उसमें ही खुश रहने, योग, विपश्यना, आर्ट ऑफ लिविंग, आदि के जरिये मानसिक शान्ति और 'आनन्द' प्राप्त करने पर जोर दिया जाता है. इतिहास में ऐसे प्रयासों की भी एक परम्परा रही है. तकनीकी क्रान्ति के आज के दौर में नयी-नयी विशेषताओं के साथ, 'खुशी' का यह कारोबार विश्वव्यापी पैमाने पर अच्छा-खासा मुनाफा देनेवाला उद्योग बन गया है- खुशी का व्यवसाय करनेवाले 'भगवानों', गुरुओं को देशी-विदेशी कॉरपोरेट घरानों से लेकर शासक वर्गों, वर्ल्ड इकॉनोमिक फोरम, संयुक्त राष्ट्र संघ समेत विभिन्न वैश्विक संगठनों का भी पर्याप्त

प्रोत्साहन प्राप्त है. दरअसल, न्याय के निषेध पर आधारित खुशी का यह व्यवसाय अन्याय के एक नये आयाम के रूप में उपस्थित हुआ है.

मानवजाति आरम्भ से ही जनों, समुदायों/जातियों, वर्गों/तबकों, आदि में विभक्त रही है. एक जाति के रूप में हमारी दावेदारी का मतलब है नस्ल/जन, लिंग, समुदाय/जाति/राष्ट्रीयता/पंथ-सम्प्रदाय, वर्ग के आधार पर सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक भेदभाव तथा उत्पीड़न की अस्वीकृति और उसका खात्मा. यह भेदभाव और उत्पीड़न विभिन्न रूपों में आजतक चला आ रहा है. उत्पादन के तौर-तरीकों में परिवर्तन, वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्तियों, आदि के कारण हमारी जीवन-स्थितियों में आनेवाले बदलावों के फलस्वरूप मानवजाति की विभिन्न श्रेणियों की स्थितियों में परिवर्तन होता रहा है, नयी श्रेणियां भी सामने आती रही हैं, फिर भी अपने बदले हुए रूपों में भेदभाव और उत्पीड़न का यह सिलसिला अब भी जारी है. इस तरह के भेदभाव और उत्पीड़न का खात्मा ही न्याय है. विश्वव्यापी पैमाने पर इस सवाल पर सैद्धान्तिक सहमति के बावजूद, इसकी उपलब्धि अब तक एक सपना ही बना हुआ है. वैसे भी, एक (मानव) जाति के रूप में हमारी दावेदारी एक निरन्तर प्रक्रिया है. नस्ल-जन, समुदाय-जाति-राष्ट्रीयता-पंथ-सम्प्रदाय, वर्ग से सम्बन्धित अनेक पूर्वाग्रह और रूढ़ियां हमारे जीवन में वैचारिक और व्यावहारिक स्तर पर बुरी तरह जड़ जमा चुकी हैं तथा संस्थाबद्ध रूप ले चुकी हैं. यह स्थिति एक दीर्घकालीन वैचारिक-राजनीतिक संघर्ष की चुनौती पेश करती है. इसके खात्मे की दिशा में पहला काम भेदभाव तथा उत्पीड़न के शिकार समुदायों की सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित करना, उनके लिए विशेष अवसर उपलब्ध कराना और उनके पक्ष में सकारात्मक कदम उठाना, तथा समानता और सम्मान के उनके अधिकारों को संवैधानिक-कानूनी संरक्षण प्रदान करना है. साथ ही उनके अधिकारों को मूर्त रूप देने के लिए समुचित संस्थाओं की स्थापना करना है.

# अन्याय के प्रमुख रूप

यहां हम अन्याय के प्रमुख रूपों को सूत्रबद्ध करने का प्रयास कर सकते हैं :

## 1. लिंग-आधारित अन्याय

नर-नारी सम्बन्धों में अन्तर्निहित भेदभाव और उत्पीड़न मानव इतिहास में अन्याय के प्राचीनतम रूपों में से एक है. उत्पादन तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अपने महत्वपूर्ण योगदान के बावजूद (कुछेक अपवादों को छोड़कर) नारियों को समानता तथा सम्मान का स्थान प्राप्त नहीं हुआ और उन्हें पुरुष-वर्चस्ववाले समाज में अनेक किस्म की बंदिशों, प्रताड़नाओं, उत्पीड़न तथा हिंसा का शिकार बनाया जाता रहा है. नारियों के प्रति, अपनी ही आधी आबादी के प्रति पुरुष-पूर्वाग्रहों पर आधारित रूढ़ छवियां मानव इतिहास की प्राचीनतम रूढ़ियों में से एक है जिससे हम आजतक गहरे रूप से ग्रस्त रहे हैं. हमारे 'इतिहास' में (कुछ अपवादों को छोड़ दें तो) नारियां लगभग अनुपस्थित ही रही हैं- सरदारों, राजाओं, दार्शनिकों, शासनाधिकारियों, सेनापतियों, वैज्ञानिकों-अनुसंधानकर्ताओं-तकनीशियनों, अर्थशास्त्रियों, लेखकों-कलाकारों, आदि की हजारों पृष्ठों में फैली नामावली में नारियां यदा-कदा ही ताकती-झांकती नजर आती हैं. कुछेक सुधारों के बावजूद, डिजिटल युग में भी लैंगिक भेदभाव और उत्पीड़न बदस्तूर जारी है.

अपनी ही जननियों के साथ यह मानवजाति के सबसे बड़े अन्यायों में से एक है और एक जाति के रूप में हमारी दावेदारी के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्नचिह्न है. जाहिर है, प्रकट-अप्रकट अनेक रूपों में इस अन्याय के प्रतिकार की भी हर युग में अपनी एक परम्परा रही है.

## 2. समुदाय-आधारित अन्याय

जनों का विकास समानान्तर रूप से नहीं हुआ है- असमान विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया में कुछ जन बड़े थे, कुछ छोटे; कुछ के पास परिष्कृत औजार थे, कुछ के पास अनगढ़; जीवनयापन के लिहाज से कुछ जन अधिक संपन्न थे, कुछ विपन्न. उनके रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों, मान्यताओं और रूढ़ियों में भी भिन्नताएं थीं. जीवनयापन के उनके साधन तथा स्रोत भी भिन्न-भिन्न थे और उनके बीच समय-समय पर अनेक सम्बन्ध बनते-बिगड़ते रहते थे. मानवजाति के आरम्भ काल में शारीरिक बल/संख्या बल का

निर्णायक स्थान था. जन का आत्म-प्रसार, जन की पहचान ही सर्वोपरि थी, अन्य जनों का अस्तित्व भी किसी एक जन के लिए वैसा था जैसे अन्य प्राणी-समूहों का अस्तित्व. इसी विकास-क्रम में जनों के बीच एक-दूसरे के प्रति अनेक रूढ़ छवियों का भी निर्माण हुआ. एक जाति के रूप में मनुष्य की पहचान पर जन के रूप में अपने-अपने जनों की पहचान हावी थी.

इसी प्रक्रिया में निरपेक्ष रूप से 'श्रेष्ठ' और 'निम्न' जनों की श्रेणियों ने मूर्त रूप ग्रहण किया. जनों के बीच अपने विस्तार-क्रम में होनेवाले युद्धों में 'श्रेष्ठ' जनों द्वारा 'निम्न' जनों का संहार, पराजित जनों का दासों में रूपान्तरण, जनों के बारे में रूढ़ छवियों का निर्माण, वर्चस्वशाली जनों द्वारा अपनी मान्यताओं, रीति-रिवाजों, प्रतीकों, नायकों, कर्मकाण्डों का शेष निम्न जनों पर आरोपन, आदि की परिघटनाएं भी सामने आईं. बहरहाल, (कुछेक अपवादों को छोड़कर) हजारों वर्षों में फैले इतिहास में जनों की स्थितियों में भी बदलाव आया, कोई भी जन हमेशा शिखर पर विराजमान नहीं रहा. फलतः जनों के बीच अनेक रूपों में होनेवाले आदान-प्रदान, सहयोग तथा युद्धों और वर्चस्व की कोशिशों के दौरान उनके बीच मान्यताओं, विचारों, उपकरणों, रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों, प्रतीकों, नायकों, आदि का भी पर्याप्त आदान-प्रदान तथा घालमेल घटित हुआ- इतना कि आज (अगर अपवादों को छोड़ दें तो) कोई भी समुदाय अपनी भौतिक-सांस्कृतिक विरासत में ठीक-ठीक यह दावा नहीं कर सकता कि उसमें उसका अपना अंशदान कितना है और कितना अन्यान्य समुदायों/स्रोतों से ग्रहण किया हुआ. मानवजाति का इतिहास एकरेखीय बाइनरी इतिहास नहीं है.

बहरहाल, हमारे इतिहास में दूसरे बड़े अन्याय का रूप एक समुदाय द्वारा दूसरे समुदाय के साथ भेदभाव, उत्पीड़न, और उसके ऊपर वर्चस्व के रूप में सामने आया. इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में हम एक अथवा कुछेक समुदायों द्वारा अन्य समुदायों के ऊपर वर्चस्व, उनके संहार, उनके साथ भेदभाव और उत्पीड़न के विभिन्न रूपों का साक्षात् करते हैं. वर्चस्वशाली'श्रेष्ठ' जनों, जातियों, पंथों-सम्प्रदायों, राष्ट्रों द्वारा 'निम्न'/ पराजित जनों-जातियों-पंथों-सम्प्रदायों-राष्ट्रों का संहार, उत्पीड़न और उनके साथ अनेक रूपों में भेदभावों का सिलसिला आजतक जारी है और एक जाति के रूप में हमारी दावेदारी का मुंह चिढ़ाता रहा है.

समुदाय-आधारित अन्याय-भेदभाव, उत्पीड़न और संहार निम्नलिखित रूपों में सामने आता है:

(क) 'नस्ल'/जन-आधारित उत्पीड़न. इतिहास के विभिन्न काल-खण्डों में और लगभग सभी क्षेत्रों में किसी जन अथवा जनों के समूह द्वारा अपनी नस्लीय श्रेष्ठता का दावा करते हुए अन्य जन अथवा जनों के समूह को रंगभेद समेत विभिन्न रूपों में भेदभाव, उत्पीड़न और संहार का शिकार बनाया जाता रहा है और यह सिलसिला आजतक जारी है.

(ख) जाति-आधारित भेदभाव और उत्पीड़न. यह भारतीय समाज की खास विशेषता रही है जिसके अन्तर्गत जन्मना श्रेष्ठ-निम्न के सामाजिक सोपान पर आधारित सामाजिक व्यवस्था में खासकर शूद्र तथा अन्त्यज जातियों को- जो व्यापक बहुसंख्यक आबादी का निर्माण करती हैं- सम्मान, समानता, सत्ता, शिक्षा और सम्पत्ति से वंचित कर दिया गया तथा उन्हें दैनन्दिन जीवन में अनेक किस्म के भेदभावों, प्रताड़नाओं और अपमान का शिकार बनाया जाता रहा है.

(ग) पंथ-सम्प्रदाय-आधारित भेदभाव और उत्पीड़न. खुद को 'श्रेष्ठ' पंथ-सम्प्रदाय माननेवालों द्वारा 'हीन' अथवा 'निम्न' पंथों-सम्प्रदायों का दमन. वर्चस्वशाली पंथों-सम्प्रदायों द्वारा अन्य पंथों-सम्प्रदायों के अनुयायियों के साथ भेदभाव, उनका उत्पीड़न और उनके संहार की घटनाओं से भी इतिहास के पृष्ठ भरे-पड़े हैं.

(घ) राष्ट्र-राष्ट्रीयता-आधारित भेदभाव और उत्पीड़न. वर्चस्वशाली औपनिवेशिक अथवा 'विकसित' राष्ट्रों द्वारा विजित अथवा कमजोर 'पिछड़ी' राष्ट्रीयताओं/ उपनिवेशों, राष्ट्रों का दमन, उनकी लूट, उनके साथ विभिन्न रूपों में भेदभाव और उनका संहार.

(ङ) घुमन्तू/खानाबदोश समुदायों (नट, रोमा, आदि) के साथ भेदभाव और उनका उत्पीड़न.

(च) भिन्न यौन रुझान वाले समुदायों (लेस्बियन-गे-बाइसेक्सुअल-ट्रांससेक्सुअल-क्विअर, एलजीबीटीक्यू) के साथ भेदभाव और उनका उत्पीड़न.

(छ) कुछ खास बीमारियों (कुष्ठ, चरक, एड्स, आदि) से ग्रस्त लोगों के साथ भेदभाव, उनका उत्पीड़न. ऐसी बीमारियों से ग्रस्त लोगों का कालक्रम में अपना एक समुदाय भी बन जाता है.

(ज) युद्ध, औद्योगीकरण, प्राकृतिक आपदाओं के कारण पूरी दुनिया में बिखरे, यहां-वहां भटकते विभिन्न राष्ट्रीयताओं, जातियों, जनजातियों, पंथों-सम्प्रदायों, आदि के करोड़ों विस्थापित/शरणार्थी समूह. ये समूह भी हमारे समाज का आज स्थायी अंग बन चुके हैं और अत्यन्त कठिन स्थितियों में अपमान, जहालत और भुखमरी की जिन्दगी जी रहे हैं. दर-दर भटकते ऐसे सैकड़ों लोगों को हर साल अपनी जान गंवानी पड़ रही है.

इस पूरी प्रक्रिया में जनों/जातियों/पंथों/सम्प्रदायों/राष्ट्रीयताओं/राष्ट्रों के बीच एक दूसरे के प्रति अनेक पूर्वाग्रहों तथा रूढ़ छवियों का भी निर्माण हुआ और ये पूर्वाग्रह तथा रूढ़ियां आजतक मानव समाज में गहरे रूप से समायी हुई हैं.

बहरहाल, इतिहास में जहां एक ओर समुदाय-आधारित भेदभाव तथा उत्पीड़न आजतक जारी है, वहीं यह भी सच है कि वर्चस्वशाली तथा वर्चस्व की शिकार शक्तियों की स्थितियों में समय-समय पर परिवर्तन भी होता रहता है- एक समय में हाशिये पर पड़े समुदाय दूसरे कालखण्ड में उदीयमान-विजयी शक्तियों के रूप में सामने आते हैं और उत्थान-पतन की इस प्रक्रिया में सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में काफी आदान-प्रदान भी घटित होता है.

इस उत्थान-पतन के बावजूद, आज भी पूरी दुनिया में ऐसे अनेक जन/जाति/पंथ/सम्प्रदाय/राष्ट्रीयताएं और कुछ समुदाय हैं जो अपेक्षाकृत लम्बे काल से भेदभाव, उत्पीड़न तथा संहार का शिकार होते रहे हैं और कुछ तो लुप्त होने की कगार पर हैं.

आज सवाल उपर्युक्त भेदभाव/उत्पीड़न के शिकार समुदायों को एकजुट करने तथा उनके सम्मान और समानता के अधिकार को प्रतिष्ठित करने, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करने और अधिकार-संपन्न करने की है.

## 3. वर्ग-आधारित अन्याय

जीवनयापन के लिए उत्पादन की प्रक्रिया में जनों, समुदायों और व्यक्तियों के बीच आपस में सम्बन्ध भी बनता जाता है. असमान विकास के कारण उत्पादन के साधनों और सामाजिक उत्पादन पर स्वामित्व और उसमें भागीदारी भी असमान रही है. अब तक के इतिहास के बड़े कालखण्ड में सामाजिक सम्पत्ति के उत्पादन में सबसे अधिक योगदान देनेवाले- दास, भूदास, श्रमिक तथा अन्य पेशेवर तबके- उस सम्पत्ति में अपनी

न्यायोचित हिस्सेदारी से वंचित किये जाते रहे हैं. दरअसल, इन उत्पादक वर्गों का बेमोल श्रम ही सामाजिक अतिरिक्त सम्पत्ति का स्रोत रहा है.

अलग-अलग उत्पादन-प्रणालियों में इस वितरणमूलक अन्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न रहा है. पूंजी के युग में इस वितरणमूलक अन्याय ने वैश्विक पैमाने पर एक अत्यन्त भयावह रूप धारण कर लिया है जहां मुट्ठी भर लोगों की सम्पत्ति अनेक देशों और अरबों लोगों की सम्पत्ति के बराबर है.

वितरणमूलक अन्याय के विस्तार में जाने के बजाय इतना बताना ही पर्याप्त होगा कि आज, इतिहास के किसी भी दौर की तुलना में, सम्पत्ति और पूंजी अपने सर्वाधिक सामाजिक स्वरूप में उपस्थित हुई है. अरबों लोगों की बैंको तथा विभिन्न वित्तीय उत्पादों में जमा बचत राशि, पेन्शन फण्ड, सार्वजनिक उद्यमों तथा वित्तीय उपक्रमों में लगी पूंजी, शेयर समेत अन्य वित्तीय उत्पादों में निवेशित अरबों लोगों की पूंजी, आदि, आदि- पूंजी के इस सामाजिक स्वरूप के बावजूद, इस पूंजी का नियंत्रण और स्वामित्व कुछ मुट्ठी भर कॉरपोरेट घरानों के हाथों में केन्द्रित है जिससे वे अकूत मुनाफा बटोरते हैं. सार्वजनिक धन की लूट, गबन, फर्जीवाड़ा, टैक्स-चोरी जैसे जघन्य अपराधों की तो बात ही अलग है.

पूंजीवाद वस्तु-पूजा से पूंजी-पूजा के जिस दौर में आ पहुंचा है, उसने विश्वव्यापी पैमाने पर अभूतपूर्व आर्थिक विषमता को जन्म दिया है. इस पूंजी ने वैश्विक संस्थाओँ तथा राष्ट्र-राज्यों की सम्प्रभुता का भी क्षरण किया है और जनतांत्रिक राष्ट्र-राज्यों के नीति-निर्माण को नियंत्रित करने तथा जनतांत्रिक आकांक्षाओं को धता बताने की अपनी ताकत का धृष्टतापूर्ण प्रदर्शन किया है (ताजा उदाहरण यूनान का है). भारत में भी इसके क्रियाकलाप इधर काफी आक्रामक रूप में सामने आये हैं.

चूंकि यह वित्तीय पूंजी- पूंजी का कारोबार करनेवाली पूंजी- समस्त समाज के बचत और धन का नियंत्रण करती है और इस नियंत्रण के जरिये अकूत मुनाफा कमाती है, चूंकि इसका कार्यक्षेत्र समूचा विश्व है, और डिजिटल उपकरणों और सेवाओं के विस्तार ने इस पूंजी के क्रियाकलापों को अभूतपूर्व वैश्विक पहुंच तथा गतिशीलता प्रदान की है, फलतः इस पूंजी-पूजा के जाल में फंसा पूरा समाज मुक्ति के लिए छटपटा रहा है- मजदूर, किसान, विभिन्न पेशेवर समुदाय, आदिवासी, अन्य वंचित समुदाय, राष्ट्रीयताएं, आदि. इस बेलगाम पूंजी पर सामाजिक नियंत्रण और स्वामित्व की मांग आर्थिक, वितरणमूलक

न्याय के केन्द्र में रही है, हालांकि अलग-अलग समाजों में, सम्बन्धित समाजों की ठोस स्थितियों के अनुरूप, इस नियंत्रण और स्वामित्व की प्रणाली भी भिन्न-भिन्न होगी.

अन्य अन्यायों की तरह ही, यह वितरणमूलक अन्याय भी समाज में अनेक पतनशील मूल्यों, रूढ़ियों को जन्म देता है. निर्धन, उत्पीड़ित समुदायों (मेहनतकश समुदाय का बड़ा हिस्सा दलित-आदिवासी-अन्य पिछड़ा वर्ग से ही आता है) की कामचोर, निठल्ले, गंदे समुदाय के रूप में रूढ़ छवि बनाने की कोशिश की जाती है, उन्हें प्रायः अनेक प्रताड़नाओं और अपमान का सामना करना पड़ता है, सौन्दर्यीकरण के नाम पर उन्हें ही उजाड़ा जाता है, अपराध हो या महामारी, पुलिस तथा प्रशासनिक अधिकारी सबसे पहले उन्हें इसके लिए जिम्मेवार ठहराते हैं और उनका शिकार करते हैं. बिना किसी अपराध के, न्याय के अभाव में, ऐसे हजारो लोग वर्षों जेल में अपना बहुमूल्य जीवन गुजार देते हैं. वहीं, पूंजी के मुनाफाखोर कारोबारियों का उद्यमिता के आदर्श उदाहरण के रूप में गौरवगान किया जाता है, वे दिन-रात कानून और प्रशासन को ठेंगा दिखाते रहते हैं, सत्ता उनके सामने नतमस्तक रहती है.

## 4. प्रकृति और मानवजाति का अन्तर्सम्बन्ध तथा अन्याय

मानवजाति के आगमन के साथ ही'प्रकृति' का भी आगमन हुआ. प्रकृति मनुष्य की रचना है- मानवेतर प्राणियों के लिए प्रकृति कुछ भी नहीं. मानवजाति के आगमन के साथ मनुष्य और प्रकृति का जो द्वैत सामने आया, वह मनुष्य से इतर, मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र, बाह्य जगत के साथ मनुष्य के सम्बन्धों में भी द्वैत रूप में सामने आया. एक ओर वह इस प्रकृति के साथ आवयविक रूप से जुड़ा था, दूसरी ओर अपने जीवनयापन के लिए, अपनी उत्पादक कार्य-सक्रियता के जरिये उसे इसी प्रकृति का 'विनाश' भी करना था. मनुष्य और प्रकृति के बीच एक कार्यशील संतुलन का प्रश्न आदिकाल से ही मानव-मन को मथता रहा है. चूंकि प्रकृति मनुष्य की ही रचना है, इसलिए मनुष्य की जीवनयापन की स्थितियों में परिवर्तन के परिणामस्वरूप 'प्रकृति' और 'प्राकृतिक जीवन' की अवधारणाएं और परिभाषाएं भी बदलती रही हैं.

प्रकृति से आवयविक रूप से जुड़े होने और प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भरता जहां एक ओर प्रकृति-पूजा तथा देवों-देवियों के रूप में प्राकृतिक शक्तियों की उपासना तथा अनेक कर्मकाण्डों के रूप में सामने आई, वहीं प्रकृति को बदलने और प्रकृति से सापेक्ष स्वतंत्रता हासिल करने के प्रयासों ने मानवीय उद्यम और शक्ति के महिमामण्डन की भी

नींव रखी. प्रकृति और मनुष्य का, प्राकृतिक शक्ति और मानवीय शक्ति का, प्रकृति और संस्कृति का, नियति और स्वतंत्र इच्छा शक्ति का, प्रकृति पर निर्भरता और मानवीय उद्यम का द्वैत मानव-इतिहास का अभिन्न अंग रहा है.

औद्योगिक युग में 'प्रकृति का स्वामी' बनने के क्रम में मनुष्य-प्रकृति सम्बन्धों में आई विकृतियों ने भयावह रूप ले लिया है. यह सही है कि शिकारी-फलसंग्राहक दौर में शिकारी मानव-जनों के हाथों कुछेक प्राणियों (जैसे मैमथ, आदि) का विनाश घटित हुआ. बड़े पैमाने पर वनों के विनाश की नींव भी कृषि युग में ही रखी गई. वनों के विनाश से मानवेतर प्राणियों की कुछ प्रजातियों तथा सूक्ष्म जीवों का विलोप हुआ अथवा वे विलुप्ति की कगार पर जा पहुंची. बहरहाल, उस विनाश की तुलना औद्योगिक युग के महज दो सौ वर्षों में हुई विनाशलीला से नहीं की जा सकती.

सवाल औद्योगिक युग की प्रचलित जीवन-दृष्टि का है जिससे औद्योगिक युग अपना औचित्य, अपनी 'श्रेष्ठता', 'प्रकृति का स्वामी' बनने के अपने अभियान का तर्क ग्रहण करता है. यह जीवन-दृष्टि भी आज लोगों के मन-मस्तिष्क में गहरे रूप से व्याप्त हो चुकी है.

इस जीवन-दृष्टि के अनुसार, प्रकृति अपने-आप में उपभोग्य नहीं है. सारी प्राकृतिक चीजें गंदी हैं, मनुष्य की जैविक जरूरतों को पूरा करने के लिहाज से अपर्याप्त हैं, बीमारियों का स्रोत हैं-प्रसंस्करण की औद्योगिक प्रक्रिया से गुजर कर ही वह मनुष्य के उपभोग लायक बनती हैं.प्राकृतिक हवा मनुष्य को बीमार करनेवाले अनेक नुकसानदेह कणों तथा जीवाणुओं की वाहक है और सांस लेने लायक नहीं है. एअर-कंडीशनरों की ऑक्सीजेनेटेड स्वस्थ हवा (जो औद्योगीकरण के जरिये उत्पादित हवा है, और इस प्रकार प्राकृतिक हवा का 'मानवीय हवा' के रूप में रूपान्तरित एक माल है) गंदी प्राकृतिक हवा के विकल्प के रूप में बेची जाती है. इसी तरह प्राकृतिक जल की जगह जीवाणु-मुक्त तथा खनिजों की संतुलित मात्रा से युक्त बोतलबंद पानी (जो प्रंसस्करण की औद्योगिक प्रक्रिया का उत्पाद है) ले लेती है. यही बात फलों, सब्जियों तथा तमाम प्राकृतिक उत्पादों पर लागू होती है. इसी प्रक्रिया की चरम अभिव्यक्ति हम खुद प्राकृतिक मानव शरीर के संदर्भ में पाते हैं. मानव शरीर भी अपनी त्रुटिपूर्ण प्राकृतिक जेनेटिक संरचना के कारण अनेक बीमारियों और महामारियों का जनक है. अतः मानव शरीर को भी जेनेटिक इंजीनियरिंग के जरिये प्रसंस्कृत कर स्वस्थ मानव शरीर में रूपान्तरित करना

है. आजकल फार्मास्युटिकल उद्योगों के शोध-अनुसंधानों तथा नयी-नयी दवाओं और चिकित्सीय उत्पादों के विनिर्माण के केन्द्र में यही जीवन-दृष्टि काम कर रही है. कुल मिलाकर, यह जीवन-दृष्टि 'प्राकृतिक अस्तित्व' से 'मानवीय अस्तित्व' की ओर महाप्रयाण को औचित्य प्रदान करनेवाली प्रेरक दृष्टि है. प्रकृति-पूजा को विस्थापित कर यह दृष्टि मानव-उद्यम-पूजा का रूप ले लेती है.

बहरहाल, असल सवाल तो इस पूजा से, चाहे वह 'प्रकृति' की हो या 'मानव-उद्यम' की, छुटकारा पाने का, और प्राकृतिक प्रक्रियाओं तथा मानवीय उद्यमशीलता के बीच संतुलन कायम करने का है. संतुलन कायम करना मानव-जाति के पूरे इतिहास में एक निरन्तर क्रिया रही है और प्रत्येक युग में अत्यन्त विवादास्पद और प्रतिस्पर्धात्मक भी. फिलहाल हम औद्योगिक युग में इस समस्या से जूझ रहे हैं. प्राकृतिक चीजों के बारे में कही गई बातें पूरी तरह गलत नहीं हैं. प्राकृतिक हवा में नुकसानदेह कण और जीवाणु होते हैं, हवा (अनेक जगहों तथा अवस्थाओं में) जहरीली भी होती है. प्राकृतिक जल के साथ भी यही बात है. मानव शरीर की जेनेटिक संरचना त्रुटिहीन नहीं है. ये सच्चाइयां ही इस जीवन-दृष्टि के प्रचलित होने का एक प्रमुख कारण है. इस सिलसिले में निम्नलिखित बातों पर गौर करना जरूरी है :

(क) सतत् विकासमान प्रकृति और समाज अपने स्वभाव से ही अनेक संभावनाओं से भरपूर अपूर्ण श्रेणियां हैं. इसलिए 'शुद्ध', 'आदर्श' जैसी अवधारणाएं भ्रामक हैं- चीजों या अपने कार्यों को निरन्तर बेहतर करते जाने के लिहाज से इन अवधारणाओं की सीमित, सापेक्ष उपयोगिता तो है, लेकिन व्यावहारिक रूप से उनकी प्राप्ति संभव नहीं है. अलग-अगल युग में, जीवनयापन की प्रचलित स्थितियों के अनुरूप गढ़ी गई ऐसी अवधारणाएं अपने-अपने युग की मनोगत परिकल्पनाएं हैं, छवियां हैं, जो सम्बन्धित समाजों को औचित्य प्रदान करती हैं, लेकिन वस्तुगत रूप से जिनका कहीं कोई अस्तित्व नहीं होता. एक खास समाज में प्रचलित 'शुद्ध'और 'आदर्श' की अवधारणा बदली हुई स्थितियों में जीवनयापन कर रहे समाजों के लिए अपर्याप्त, अवरोधक तथा तिरस्कार-योग्य साबित होती है. 'शुद्ध' और 'आदर्श' की यह तलाश मानवजाति को अपने ही व्यक्तियों, समुदायों को समानता और पारस्परिक सम्मान के आधार पर सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक रूप से अधिकार-संपन्न करने की जगह उसे हमेशा 'आदर्श' की प्रतीक्षा में, परिकल्पित 'आदर्श दुनिया' के बियाबान में, 'शुद्धता' के सम्मोहन में, उन्मादपूर्ण रक्तरंजित अभियानों में भटकाती रहती है. 'आदर्श' समाज नहीं,

न्यायपूर्ण समाज- ‘आदर्श’समाज की उपलब्धि संभव नहीं, जबकि न्यायपूर्ण समाज हासिल किया जा सकता है.

(ख) प्रकृति का विनाश पिछले समाजों में भी हुआ, लेकिन उसकी गति काफी धीमी थी. फलतः उस विनाश की थोड़ी-बहुत भरपाई प्रकृति कर लिया करती थी. लेकिन औद्योगिक युग में प्रकृति के दोहन और उसके विनाश की गति इतनी तेज है कि प्रकृति के लिए भी सांस लेना दूभर हो गया है. औद्योगिक प्रदूषण, पर्यावरण-विनाश, जलवायु-परिवर्तन वैश्विक आपदा का रूप ले चुका है. आज हम जो जहरीली हवा सांस लेते हैं, वह प्राकृतिक हवा नहीं, औद्योगिक युग की प्रदूषित हवा है. नदियों, जलाशयों का जल अब प्राकृतिक जल नहीं, औद्योगिक युग के कचरों, रसायनों, आदि से युक्त विषाक्त जल है. औद्योगिक युग ने पहले प्राकृतिक हवा, जल, आदि को दूषित किया और फिर वह प्रसंस्करण की औद्योगिक प्रक्रिया के जरिये ‘शुद्ध’ हवा और जल के विनिमेय माल के साथ हाजिर है.

हर देश और हर शहर में हम आज इस विरोधी स्थिति का नजारा देख सकते हैं. एक ओर औद्योगिक प्रसंस्करण की प्रक्रिया से उत्पादित ‘शुद्ध, स्वस्थ हवा, जल’, आदि का उपभोग करनेवाला अल्पसंख्यक समुदाय और दूसरी ओर उसी औद्योगीकरण की प्रक्रिया के कारण प्रदूषण, पर्यावरण-क्षरण के बीच मलिन बस्तियों में कचरों, जहरीली हवा, विषाक्त जल, अम्ल-वर्षा के बीच रहनेवाला बहुसंख्यक समुदाय. प्राकृतिक स्रोतों-वनों, नदियों-झीलों पर निर्भर रहनेवाले आदिवासी समुदायों के लिए जीना दूभर हो गया है. पर्यावरण-क्षरण के कारण विस्थापित, यहां-वहां भटकती आबादी दुनिया भर में लगातार बढ़ती जा रही है. एक ओर सर्वाधिक कार्बन फूटप्रिण्ट वाली, लेकिन सबसे स्वस्थ, शुद्ध हवा और जल का उपभोग करनेवाली अत्यन्त क्षुद्र धनी लोगों की दुनिया है, दूसरी और लगभग नगण्य कार्बन फूटप्रिण्ट वाला विशाल बहुसंख्यक निर्धन, उपेक्षित, वंचित समुदाय है जो कचरों, जहरीली हवा, विषाक्त जल, कीटनाशकों व अन्य रसायनों से युक्त खाद्यान्नों, फलों, सब्जियों, आदि के साथ गुजारा करने को मजबूर है.

प्राकृतिक प्रक्रियाओं और मानवीय उद्यमशीलता के बीच संतुलन कायम करने का प्रश्न आज औद्योगिक प्रदूषण, पर्यावरण-विनाश, जलवायु-परिवर्तन के शिकार बहुसंख्यक निर्धन, आदिवासी और वंचित समुदायों के सम्मानजनक जीवन जीने के न्यायपूर्ण अधिकार का प्रश्न बन चुका है.

# न्याय का संघर्ष

इतिहास में इन सभी अन्यायों के खिलाफ संघर्ष की एक लम्बी परम्परा रही है. इन संघर्षों की अपनी-अपनी वैचारिकी, अपना-अपना जीवन-मूल्य, साहित्य और अपने-अपने नायक रहे हैं. उनकी अपनी-अपनी युग-सापेक्ष उपलब्धियां भी रही हैं. प्रचलित इतिहास में इन संघर्षों को, उनकी वैचारिकी, उनके साहित्य, उनके नायकों और उनकी उपलब्धियों को समुचित सम्मानजनक स्थान दिलाने की जद्दोजहद आज भी जारी है.

इन सभी अन्यायों के खिलाफ संघर्ष समाज में समानान्तर रूप से हर समय चलता रहता है. आज अपने देश और दुनिया में समानान्तर रूप से चल रहे इन तमाम संघर्षों का हम सहज ही साक्षात् कर सकते हैं- सवाल यह नहीं है कि पहले यह संघर्ष हो फिर वह. विभिन्न क्षेत्रों में, अपने-अपने विशिष्ट मुद्दों पर एक ही साथ और एक ही समय में महिलाओं के, आदिवासियों के, दलित-पिछड़े और अल्पसंख्यक समुदायों के, मजदूर-किसान वर्गों के, भिन्न यौन रुझानवाले समूहों के, राष्ट्रीयताओं के और पर्यावरण-क्षरण तथा प्रदूषण से प्रभावित समुदायों के आन्दोलन चलते देखे जा सकते हैं. अनेक अवसरों पर इनमें से कुछेक आन्दोलनों को एक मंच साझा करते हुए भी देखा जा सकता है और कभी-कभी एक-दूसरे से उलझते हुए भी.

कहने की जरूरत नहीं कि अन्याय के इन अलग-अलग आयामों के खिलाफ संघर्षरत शक्तियों की वैचारिकी, प्रचार-सामग्री, कार्यनीति, उनके संगठन के स्वरूप और उनके आन्दोलन के तरीकों, उनके नायक और उनकी विरासत, आदि में भिन्नता होगी. इन शक्तियों की किसी भी संभावित एकता के लिए इस भिन्नता की स्वीकृति तथा उसके प्रति सम्मान एक जरूरी शर्त होगी.

न्याय के लिए संघर्षरत इन तमाम समूहों की एकजुटता में ही (खंडित समूहों की जगह) एक जाति-मूल के रूप में हम मानवजाति की वास्तविक दावेदारी का भ्रूण रूप देख सकते हैं. लेकिन क्या यह एकजुटता व्यावहारिक तौर पर मूर्त रूप ग्रहण कर पाएगी?

इस एकजुटता के व्यावहारिक तौर पर मूर्त रूप ग्रहण करने की राह में जो रुकावटें हैं, उन पर थोड़ी चर्चा यहां बेमानी नहीं होगी.

(क) अव्वल तो प्रत्येक आन्दोलन में अपने सम्बन्धित आयाम से जुड़ी संकीर्णता का पहलू कुछ हद तक अन्तर्निहित होता है. यह संकीर्णता अपने आन्दोलन को अन्य आन्दोलनों की तुलना में अधिक वरीयता देती है. वरीयता अथवा महत्ता की यह होड़ आन्दोलनकारी संगठनों के बीच समानता और परस्पर सम्मान पर आधारित सम्बन्धों के विकास में बाधा उपस्थित करती है. प्रत्येक आन्दोलन का प्रायः यह दावा होता है कि एक न्यायपूर्ण समाज की स्थापना में उसके आन्दोलन की निर्णायक भूमिका है और उसकी सफलता न्याय के लिए चलनेवाले अन्य आन्दोलनों की विजय की पूर्वशर्त है.

(ख) चूंकि ये सारे आन्दोलन अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ समाज में एक साथ चलते आ रहे हैं, इसलिए इन सारे आन्दोलनों के पास अपना इतिहास, अपनी विरासत, अपने नायक-खलनायक होते हैं, उनके संघर्ष का रूप अलग-अलग होता है, उनके हिस्से सफलताओं और असफलताओं का अलग-अलग खाता होता है. इतिहास में इन आन्दोलनों के आपस में टकराव के क्षण भी होते हैं; एक के नायक दूसरे के लिए महत्वहीन, या, यहां तक कि, खलनायक भी हो सकते हैं; और उनके अपने-अपने अनेक पूर्वाग्रह भी होते हैं.

यहां कुछ प्रचलित उदाहरणों का जिक्र किया जा सकता है. अभिव्यक्ति की आजादी के लिए होनेवाले संघर्षों में ऐसे लोग और समूह भी शामिल हो सकते हैं (अथवा होते हैं) जो न्याय के लिए होनेवाले अन्य आन्दोलनों तथा उनका मांगों के विरोधी हों (जैसे आरक्षण की मांग, या फिर मजदूर-किसानों की वर्गीय मांग, आदि). अब अभिव्यक्ति का जनवादी अधिकार व्यक्तियों तथा सभी समुदायों के लिए जरूरी है, और इसे हासिल करने के लिए देश-दुनिया में अनेक जनसंघर्ष हुए हैं और आज भी जब-जब उस पर खतरा उपस्थित होता है, तब-तब होता रहता है. लेकिन उसमें विभिन्न विचारों तथा प्रतिबद्धताओं वाले लोग शामिल होते हैं.

उपनिवेशों में राजनीतिक स्वतंत्रता की मांग एक जनवादी मांग है, लेकिन इस स्वतंत्रता के संघर्ष में ऐसे लोग भी शामिल होते हैं जो इन देशों में पहले से चली आ रही अन्यायपूर्ण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के हिमायती होते हैं. अपने देश में ही स्वतंत्रता आन्दोलन के आरम्भ से ही स्वतंत्रता आन्दोलन, सामाजिक आन्दोलन, दलित-आदिवासी समुदायों के आन्दोलन, अल्पसंख्यक समुदायों के आन्दोलन, मजदूर-किसानों के आन्दोलन के बीच टकराव होते रहे. स्वतंत्रता आन्दोलन के अनेक नायक

इन आन्दोलनों की नजर में खलनायक की भूमिका में खड़े दिखाई देते हैं. इन आन्दोलनों को साझा मंच प्रदान करने की कोशिशें भी होतीं, साथ ही उनके बीच समय-समय पर तीखे संघर्ष भी होते रहते. स्वतंत्रता के बाद ये संघर्ष और खुलकर सामने आये, क्योंकि तब सामाजिक पुनर्रचना का प्रश्न केन्द्रीय प्रश्न बन गया.

स्वतंत्रता, समानता और पारस्परिक सम्मान एक संक्रमणशील विचार है- जब राष्ट्रों के बीच स्वतंत्रता, समानता और पारस्परिक सम्मान की बात उठती है तो, जाहिर है, इस स्वतंत्रता, समानता और सम्मान से वंचित समुदाय भी अपने-अपने समुदायों के लिए यही दावा पेश करेंगे. इस प्रकार, एक राष्ट्रीय आन्दोलन अन्य अनेक आन्दोलनों की जमीन तैयार करता है. स्वतंत्रता आन्दोलन एक दुहरी प्रक्रिया को जन्म देता है- एक ओर विदेशी शासन से मुक्ति की प्रक्रिया और दूसरी ओर खुद देश के अन्दर सामाजिक पुनर्रचना की प्रक्रिया. दोनों प्रक्रियाएं एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया के जरिये एक दूसरे को बल प्रदान करती हैं. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद समाज वही नहीं रहता जो उपनिवेश बनने के पहले था.

इसी तरह सामाजिक आन्दोलनों और वर्गीय आन्दोलनों के बीच टकराव की स्थिति पैदा होती रहती है. सामाजिक आन्दोलनों के संचालकों को लगता है कि वर्ग-आधारित आन्दोलन के संचालक सामाजिक भेदभाव तथा उत्पीड़न को उचित महत्व नहीं देते, और उनके आन्दोलनों में फूट डालने और उसे कमजोर करने का प्रयास करते हैं, तो वर्ग आन्दोलनों के संचालकों को लगता है कि विभिन्न समुदायों के वर्चस्वशाली तबके समुदायगत एकता के नाम पर दरअसल अपने-अपने समुदायों के शोषित-उत्पीड़ित वर्गों के न्यायपूर्ण अधिकारों का हनन करते हैं, और जाति के आधार पर मजदूर-किसानों की वर्गीय एकता में बाधा डालते हैं. अपने देश में स्वतंत्रता आन्दोलन के दिनों से ही सामाजिक आन्दोलन और वर्ग आन्दोलन के बीच एक टिकाऊ आवयविक सम्बन्ध विकसित करने की समस्या बनी रही है.

इसी तरह अन्य आन्दोलनों के बारे में भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं. बहरहाल, मूल बात है यथार्थ जीवन के इन सारे सत्यों को साझा मंच पर लाने की कोशिश करना- एक ऐसे साझा कार्यक्रम को आधार बनाना जिसमें सभी पक्षों की न्यायपूर्ण मांगों के समुचित स्थान प्राप्त हो. जाहिर है, यह कोशिश समुदायों, वर्गों के बीच आन्तरिक संघर्ष को भी जन्म देगी. यह समाज के जनवादीकरण के विस्तार और उसे गहराई में ले जाने की जरूरी

सचेत प्रक्रिया है. यह न्याय के लिए संघर्षरत सभी पक्षों के बीच पारस्परिक संवाद और सहमति विकसित करने की भी प्रक्रिया है.

(ग) न्याय की इन विभिन्न धाराओं में कोई एक धारा न्याय का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि होने, न्यायपूर्ण समाज की स्थापना की कुंजी होने का दावा नहीं कर सकती. कोई एक धारा अन्य सभी धाराओं का नेतृत्व करने की आत्म-मुग्ध प्रवंचना में दरअसल इन सभी धाराओं के बीच संवाद कायम करने और उनका साझा मंच बनाने की कोशिश में रुकावट ही डालेगी. इस तरह का कोई मंच पारस्परिक सम्मान, समानता और संवाद के जरिये ही साकार हो सकता है- श्रेष्ठ-निम्न का सोपानमूलक नेतृत्वकारी ढांचा इस दिशा में बाधक ही होगा. अपनी वैचारिकी, अपनी विरासत, अपने प्रतीकों और अपनी सांगठनिक विशिष्टताओं के साथ इन सभी धाराओं की स्वायत्तता के प्रति सम्मान और संवेदनशीलता ऐसी किसी भी वृहत्तर एकता की शर्त है और इस एकता का आधार सभी धाराओं की मूल मांगों को समाहित करनेवाला एक साझा कार्यक्रम ही हो सकता है.

आधुनिक काल में कम्युनिस्ट धारा एक ऐसी धारा रही है जो अपने पास एकमात्र वैज्ञानिक रूप से निरूपित सत्य का, सामाजिक क्रान्ति के सबसे विकसित और कमोबेश परिपूर्ण सिद्धान्त होने का दावा करती रही है- यह दावा कि कम्युनिस्टों के नेतृत्व में होनेवाली क्रान्तियां और उनके नेतृत्व में स्थापित समाजवादी समाज अन्य सभी अन्यायों- वर्ग अन्याय के साथ-साथ लैंगिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, आदि अन्यायों का अन्त कर देगी. इसलिए प्राथमिक काम, उनकी नजर में, कम्युनिस्टों के नेतृत्व में समाजवादी समाज की स्थापना है. जब ऐसे दावे किये गये थे, तब लोगों ने काफी हद तक उन पर विश्वास भी जताया था. लेकिन बात आज सिर्फ इन दावों की नहीं है- बीसवीं सदी में अनेक बड़े और छोटे देश ऐसे समाजवादी प्रयोगों के गवाह बन चुके हैं, और ये प्रयोग इन दावों की पुष्टि नहीं करते हैं.

सत्ता और नीति-निर्माण से जुड़ी विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व की मांग न्याय के लिए चलनेवाले आन्दोलनों की सबसे प्राथमिक मांग रही है. अब अन्य धाराओं की बात छोड़ भी दें और सिर्फ नारी तथा दलित आन्दोलन को ही लें, तो इन आन्दोलनों के प्रतिनिधि यह वाजिब सवाल तो कर ही सकते हैं कि सात-आठ-नौ दशकों के बाद भी कम्युनिस्ट पार्टियों, (तथा जहां उनका शासन रहा, वहां) समाजवादी देशों तथा प्रादेशिक सरकारों में इस प्रतिनिधित्व की क्या स्थिति रही ?

पार्टी और सरकार की संस्थाओं में महिलाओं, दलित-आदिवासी, और अल्पसंख्यक समुदायों का प्रतिनिधित्व इतने लम्बे काल के बाद भी नगण्य क्यों रहा ? जाहिर है, यह कोई छोटी-मोटी भूल नहीं, बल्कि गहरी सामाजिक समस्या की ओर इशारा करती है, और न्याय की विभिन्न धाराओं की स्वायत्तता की जरूरत को बल प्रदान करती है. इन देशों में न्याय की विभिन्न धाराओं के काम-काज की गुंजाइश भी नहीं छोड़ी गई- सब कुछ कम्युनिस्ट पार्टी के हवाले कर दिया गया और पार्टी का विरोध समाजवाद के विरोध और प्रतिक्रियावादी ताकतों के षडयंत्र के बराबर करार दिया गया.

इसी तरह का प्रश्न नारी, दलित, आदिवासी और अल्पसंख्यक समुदायों के प्रतिनिधि पिछड़े वर्गों के सामाजिक न्याय के प्रतिनिधि दलों तथा नेतृत्व से भी कर सकते हैं. सामाजिक न्याय की धारा भी इन समुदायों की प्रतिनिधित्व की प्राथमिक मांग तक पूरा करने में न सिर्फ विफल रही है, बल्कि प्रायः इन समुदायों के प्रति अपनी ब्राह्मणवादी मानसिकता तथा व्यवहार का परिचय देती रही है. आजादी के बाद पिछड़े वर्गों से उभरे दबंग तबके दलितों, आदिवासियों और महिलाओं पर, और अनेक अवसरों पर अल्पसंख्यक समुदायों पर जुल्म ढाते रहे हैं, हत्याएं और जनसंहार तक करते रहे हैं, तथापि इन वर्गों से सामाजिक न्याय के आन्दोलन के जरिये सामने आये राजनीतिक दल और नेता ऐसी घटनाओं की न सिर्फ अनदेखी करते हैं, बल्कि ऐसी वारदातों को अंजाम देनेवालों का बचाव करते और उनके साथ संश्रय करते देखे जा सकते हैं.

(घ) न्याय की इन विभिन्न धाराओं के संघर्ष का स्तर भिन्न-भिन्न होता है. कहीं किसी प्रश्न पर संघर्ष काफी जुझारू स्तर पर हो सकता है, तो किसी दूसरे प्रश्न पर काफी प्राथमिक स्तर पर (बुनियादी स्तर की सामान्य गोलबंदी, मांगपत्र तैयार करने तथा सत्ता के समक्ष प्रतिनिधिमंडल भेजने के स्तर पर). अपनी मांगों को संवैधानिक-कानूनी स्वरूप प्रदान करने के लिए न्याय की कोई धारा व्यापक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में आंचलिक, प्रादेशिक अथवा केन्द्रीय सत्ता में भागीदार भी हो सकती है, तो कोई दूसरी धारा अपने संघर्ष के क्रम में सत्ता के व्यापक दमन का शिकार भी. अपने देश में दलितों, पिछड़े वर्गों, आदि के आरक्षण का आन्दोलन हो, या फिर अलग प्रान्त के लिए आन्दोलन, भूमि सुधार के लिए किसानों के जुझारू आन्दोलन हों, या फिर श्रम अधिकारों के लिए मजदूरों के आन्दोलन- न्याय के लिए होनेवाले विभिन्न संघर्षों की अवस्था में भिन्नता, उतार-चढ़ाव तथा सत्ता में प्रतिनिधित्व के मामले में अन्तर हम प्रायः देखते रहे हैं. यह स्थिति भी न्याय की सभी धाराओं की एकजुटता में बाधा खड़ी करती है.

कुल मिलाकर, न्याय की विभिन्न धाराओं का सम्मिलित राजनीतिक मंच अथवा दल आंचलिक से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर कभी सत्तासीन नहीं हुआ है- हालांकि अलग-अलग धाराएं विभिन्न स्तरों पर सत्तासीन हुई हैं और अपनी कुछ बुनियादी और तात्कालिक मांगों को कानूनी और संवैधानिक स्वरूप प्रदान करने में सक्षम भी हुई हैं. जनतंत्र में प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच सत्ता के लिए होनेवाली तीखी प्रतिद्वन्द्विता की स्थिति में, छोटे दलों का महत्व भी बढ़ जाता है और ऐसे दल भी प्रायः अपनी कुछ मांगे मनवाने में सफल हो जाते हैं. अस्थिर, संविद सरकारों के दौर में कई महत्वपूर्ण संवैधानिक कदम उठाए गए और विधेयक पारित हुए.

बहरहाल, न्याय की विभिन्न धाराओं की तुलनात्मक स्थिति में यह भिन्नता शासक वर्गों को भी उनमें फूट डालने और उन्हें एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने का अवसर प्रदान करती है.

(ङ) अन्त में, हर धारा में, हर आन्दोलन में ऐसे अवसरवादी तत्व भी होते हैं जो अपने निजी, संकीर्ण स्वार्थ में हर तरह के गैर-उसूली समझौतों के लिए तत्पर रहते हैं.

उपर्युक्त स्थितियों को देखते हुए, न्याय की विभिन्न धाराओं की एकजुटता लगभग असंभव कार्य लग सकती है, फिर भी न्याय के लिए प्रतिबद्ध व्यक्तियों तथा समूहों के लिए इस एकजुटता के लिए प्रयत्नशील होना, तमाम अवरोधों तथा असफलताओं के बावजूद, एक निरन्तर क्रिया है. यह दूरदृष्टि संपन्न अत्यन्त कुशल नेतृत्व की मांग करता है. इसकी वैचारिक-सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के निर्माण में तथा इस एकजुटता के लिए दबाव बनाने में बौद्धिक समुदाय की एक बड़ी भूमिका है. इस एकजुटता के बिना न्याय की शक्तियों का राजनीतिक सशक्तीकरण अधूरा, इकहरा रहेगा और अन्याय की ताकतों के लिए समाज का खतरनाक विभाजन करना अपेक्षाकृत आसान होगा.

# डिजिटल युग

इन सारे परिवर्तनों के बीच दुनिया सूचना-संचार क्रान्ति के एक नये युग में प्रवेश कर गई है और यह डिजिटल युग हमारी दिनचर्या से लेकर उत्पादन, व्यवसाय, शिक्षा, मनोरंजन, मीडिया, आदि सभी क्षेत्रों में तेजी से दाखिल होता जा रहा है. इस क्रान्ति से सभी वर्ग और तबके अपने-अपने ढंग से प्रभावित हो रहे हैं, जनतांत्रिक राजनीतिक ढांचा भी इस परिवर्तन से गहरे रूप में आक्रांत है, जन आन्दोलनों के संचालन और उनके तौर-तरीकों में आनेवाला बदलाव तो हाल के वर्षों में देश और दुनिया में हुए बड़े-बड़े जन-उभारों पर नजर डालने से ही साफ हो जाएगा.

इतिहास में वैज्ञानिक-तकनीकी क्रान्तियों ने सामाजिक परिवर्तन को कितना प्रभावित किया है, इसका ब्यौरा देना यहां जरूरी नहीं. सिर्फ गुटेनबर्ग और उनके छापाखाने, तथा यूरोप के आधुनिक इतिहास में उसकी भूमिका को याद किया जा सकता है. बहरहाल, आज की तकनीकी क्रान्ति की अतुलनीय रफ्तार और उसके सामाजिक प्रभाव की बात ही कुछ और है.

भारत में इंटरनेट पर उपस्थिति आबादी के लिहाज से अभी बहुत ज्यादा नहीं है, फिर भी संख्या के लिहाज से महत्वपूर्ण अवश्य है. स्मार्टफोन के तेजी से बढ़ते बाजार के साथ और सूचना, व्यवसाय, शिक्षा, शासन, मनोरंजन, आदि के लिए विभिन्न एप्लिकेशनों के ऊपर बढ़ती निर्भरता के कारण उनकी संख्या में तेजी से विस्तार हो रहा है. जन-आन्दोलनों के संगठन-संचालन, प्रचार-प्रसार में सोशल मीडिया बड़ी भूमिका अदा कर रहा है. बहरहाल, हर तकनीक की तरह इस तकनीकी क्रान्ति की भी दुहरी भूमिका है. यह जहां न्याय की शक्तियों के लिए उपयोगी है, तो वहीं अन्याय की शक्तियां भी इसका अपने हित में तरह-तरह से उपयोग कर रही हैं.सम्पत्ति के अप्रत्याशित संकेन्द्रण, प्रतिगामी विचारों के प्रचार-प्रसार, घृणा के प्रचार, निजता के अधिकारों के हनन, जालसाजी, दमनात्मक कार्रवाइयों, हर समस्या के सतहीकरण/सरलीकरण, चेतना को चंचल क्षणों में भटकाने, आत्म-मुग्धता/आत्म-भ्रम की वायवीय दुनिया रचने, आदि में भी इसका धड़ल्ले से प्रयोग किया जा रहा है. कुल मिलाकर, वर्चुअल दुनिया खुद अन्याय और न्याय की ताकतों के बीच तीखे संघर्षों की दुनिया बन गई है और यह संघर्ष

वास्तविक दुनिया में चलनेवाले संघर्षों का न सिर्फ प्रतिबिम्ब है, बल्कि उसे बड़े रूप में प्रभावित भी कर रहा है.

इस तकनीकी क्रान्ति के फलस्वरूप सॉफ्टवेयर क्षेत्र में काम करनेवालों की भारी तादाद सामने आई है. निजी क्षेत्र के सिर्फ बीपीओ/केपीओ सेक्टर में कर्मचारियों की संख्या करीब बारह लाख है जिसमें अच्छी-खासी संख्या महिला कर्मचारियों की है (टीसीएस में महिला कर्मचारियों की संख्या करीब चालीस फीसदी है). इन कर्मचारियों की कार्यस्थितियां काफी दयनीय हैं, काम के घण्टे काफी ज्यादा हैं (यहां तक कि खाली समय का एक हिस्सा भी उनके काम के घण्टे में बेमोल शामिल कर लिया जाता है). ये कार्यस्थितियां (लम्बे समय तक रात के समय कम्प्यूटरों पर काम करना, आदि) अनेक नई पेशागत मानसिक तथा शारीरिक बीमारियों का कारण बन रही हैं. इन कर्मचारियों का कोई संगठन भी नहीं है और उन्हें अपने मालिकों की मनमानियों का प्रायः शिकार होना पड़ता है. नये डिजिटल युग के इन नये कर्मचारियों का- जिनकी भारी तादाद नवजवान है- संगठन और उनके बुनियादी अधिकारों का संरक्षण आज एक आवश्यक कार्यभार बन गया है. इसके साथ, सरकारी क्षेत्र में तथा संचार-सेवाओं के क्षेत्र में ऐसे कर्मचारियों (प्रोग्रेमरों, सिस्टम एनेलिस्टों, डेटा साइंटिस्टों, आदि) की संख्या जोड़ दें तो यह तादाद और बड़ी हो जाएगी. दरअसल, शासन, व्यवसाय और जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में इन कर्मचारियों ने निर्णायक स्थान ग्रहण कर लिया है, लेकिन वे असंगठित हैं और सामान्य श्रम-अधिकारों से वंचित हैं. किसी ट्रेड यूनियन ने भी इस क्षेत्र में अभी पहलकदमी नहीं ली है.

जाहिर है, भविष्य के किसी श्रमिक आन्दोलन और जन-संघर्ष में इन कर्मचारियों की काफी महत्वपूर्ण भूमिका होगी. इसका एक प्रमुख कारण व्यवसाय, शासन और जीवन के सभी क्षेत्रों की कम्प्यूटर तथा इंटरनेट पर बढ़ती निर्भरता है. इन्हीं कर्मचारियों के बीच हैकर एक्टिविस्टों (हैक्टिविस्टों) की कारगर टीम विकसित की जा सकती है जो जन-संघर्षों को प्रभावकारी धार प्रदान करेगी.

कुल मिलाकर, न्याय के आन्दोलनों को सचेत रूप से डिजिटल युग की इन नयी वास्तविकताओं के साथ तालमेल बिठाना होगा. आन्दोलनों के पुराने रूप अब ज्यादा कारगर साबित नहीं होंगे और शासक वर्गों को उनसे निपटने में ज्यादा कठिनाई नहीं आएगी.

आन्दोलन के संगठन तथा जहरीले विचारों और अफवाहों के प्रचार, असली मुद्दों से ध्यान भटकाने के प्रयासों का पुरजोर जवाब देने के लिए जिस तरह सोशल मीडिया में एक कारगर टीम का होना जरूरी है, उसी तरह जन-संघर्षों के दौरान हैक्टिविस्टों की छापामार कार्रवाई भी जो शासन की विभिन्न दमनात्मक इकाइयों को पंगु बनाने तथा भटकाने का काम कर सकती है. अतीत में भी ऐसी टीमें जन-आन्दोलनों का हिस्सा होती ही थीं- आज उनका डिजिटल कायान्तरण जरूरी हो गया है.

कहने की जरूरत नहीं कि इन मामलों में शासक वर्ग पहले से ही काफी आगे है. सूचना-संचार के माध्यमों पर अपने प्रभुत्व के कारण, वे सार्वजनिक बहस के मुद्दे तय करते रहे हैं, वास्तविक मुद्दों से ध्यान भटकाने के अनेक नापाक हथकण्डे अपनाते रहे हैं, अफवाहों और डिजिटल जालसाजियों के जरिये समाज में जहरीला वातावरण बनाते रहते हैं. हालांकि हाल के दिनों में सोशल माडिया में सक्रिय न्याय की पक्षधर शक्तियां इसका कुछ हद तक प्रतिकार करने में सफल हुई हैं, फिर भी न्याय को समर्पित एक प्रतिबद्ध टीम का अब भी अभाव है.

# व्यक्तियों, संगठनों तथा संस्थाओं का मूल्यांकन

व्यक्तियों, संगठनों और संस्थाओं का मूल्यांकन प्रायः न्याय की विभिन्न धाराओं के बीच तीखे विवाद का कारण बनता रहा है. इसलिए इस प्रश्न पर भी स्पष्ट दृष्टि अपेक्षित है.

(क) प्रत्येक पीढ़ी विरासत में अनेक विचार, संस्थाएं, संगठन और जीवन-मूल्य प्राप्त करती है और उन्हीं के बीच उनका लालन-पालन तथा प्रारंभिक विकास होता है. इन विचारों-संस्थाओं-मूल्यों में दोनों तरह की चीजें होती हैं- कुछ विचार, संस्थाएं तथा मूल्य न्याय के लिए समाज में चले आ रहे संघर्षों की उपज होते हैं और इस प्रकार न्याय के लिए होनेवाले संघर्षों की आधार-भूमि का काम करते हैं, तो वहीं बहुत सारे विचार अन्याय को औचित्य प्रदान करते हैं, बहुत सारी संस्थाएं अन्याय को संस्थाबद्ध रूप प्रदान करती हैं, और बहुत सारे मूल्य अन्याय का पक्षपोषण करते हैं. वास्तविक जीवन में ये सारी स्थितियां इतने स्पष्ट खांचों में बंटी नहीं होतीं, बल्कि अनेक रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों के साथ आपस में घुली-मिली होती हैं.

किसी भी देश में प्रचलित विचार-शाखाओं, संस्थाओं तथा जीवन-मूल्यों की (कुल मिलाकर, समाज में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक जीवन की) समालोचना के जरिये ही आज के दौर के लिए प्रासंगिक तथा व्यावहारिक न्याय का विचार, कार्यक्रम और कार्यभार आकार ग्रहण करता है. यह एक श्रमसाध्य वैचारिक और व्यावहारिक अनुशीलन की मांग करता है. आज के जमाने के ऐसे सभी नायकों तथा प्रतीक पुरुषों को इस श्रमसाध्य बौद्धिक और व्यावहारिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ा है.

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि हमारे मन-मस्तिष्क में व्यक्तियों, संस्थाओं तथा मूल्यों की एक आदर्श, अमूर्त छवि होती है और उसी छवि के आधार पर हम व्यक्तियों तथा संस्थाओं का मूल्यांकन करने लगते हैं और निराश हो जाते हैं. यथार्थ जीवन में कहीं भी ऐसे आदर्श व्यक्तियों तथा संस्थाओं का अस्तित्व नहीं होता जो न्याय की सभी कसौटियों पर खड़ा उतरे (कुछेक अपवादों को छोड़कर). किसी भी व्यक्ति अथवा संस्था द्वारा अपने चुने गये कार्यक्षेत्र और उस क्षेत्र में उनके अवदान के आधार पर ही उनका मूल्यांकन उचित है. जाहिर है, अन्य क्षेत्र में उनका विचार और व्यवहार नकारात्मक हो सकता है, और इस लिहाज से उस क्षेत्र में काम करनेवालों द्वारा उनकी आलोचना भी

न्यायोचित होगी. अक्सर हम व्यक्तियों तथा संस्थाओं के मूल्यांकन में इस द्वैत स्थिति को मानने के लिए तैयार नहीं होते और एक-आयामी, इकहरे विश्लेषण के शिकार हो जाते हैं.

कोई व्यक्ति या संस्था न्याय के किसी एक क्षेत्र में नायक के रूप में उभरता है तो हम यह अपेक्षा करते हैं कि वह न्याय की सभी कसौटियों पर खरा उतरे. यह अपेक्षा करना गलत नहीं है, बल्कि वैसा हो, यह हमारा लक्ष्य है. लेकिन यथार्थ जीवन में ऐसे आदर्श व्यक्तियों तथा संस्थाओं का हम सामना नहीं करते. संतुलित मूल्यांकन की यह मांग है कि हम किसी व्यक्ति या संस्था के अपने चुने गये कार्य-क्षेत्र में योगदान को स्वीकार करें और उसे यथोचित सम्मान दें, तथा अन्य मामलों में उनकी आलोचनाओं को भी स्थान दें. ऐसा नहीं होने पर (चूंकि कोई भी व्यक्ति या संस्था पूर्ण या आदर्श नहीं है) हम किसी को भी उसकी कमियों, अपूर्णताओं और गलतियों का हवाला देकर उसकी लानत-मलामत कर सकते हैं, उसे मटियामेट कर सकते हैं- सार्विक निंदक की भूमिका से किया गया ऐसा मूल्यांकन हमें कहीं नहीं ले जाएगा. बेवजह आरोप-प्रत्यारोप के अन्तहीन सिलसिले में फंस कर हम खुद अकेले रह जाएंगे, निष्क्रिय निंदक की भूमिका में. आखिर उस भूमिका में भी हम टिक नहीं पाएंगे क्योंकि हम खुद भी आदर्श और पूर्ण नहीं है.

न्याय तथा सामाजिक बेहतरी के लिए चलनेवाले लगभग सभी आन्दोलनों, उनके नायकों और उन्हें संचालित करनेवाले संगठनों को खासकर नारी तथा दलित-आदिवासी समुदायों की गंभीर आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है, और ये आलोचनाएं वाजिब भी हैं, क्योंकि नारियों और दलित-आदिवासी समुदायों को समानता और सम्मान के आधार पर ऐसे आन्दोलनों में भी प्रायः वाजिब स्थान तथा प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हुआ है. इन आन्दोलनों में अपनी पर्याप्त सक्रिय भागीदारी के बावजूद, इन आन्दोलनों के नेतृत्व तथा नीति-निर्माण की संस्थाओं में पुरुष और पुरुष ही दिखाई देंगे, और वह भी ज्यादातर सवर्ण समुदायों से आये हुए पुरुष- प्रायः अपने नारी-विरोधी, दलित-आदिवासी-विरोधी पूर्वाग्रहों तथा रूढिवादी धारणाओं के साथ. किसी भी आधार पर इस स्थिति को औचित्य प्रदान नहीं किया जा सकता.

(ख) कुल मिलाकर, इतिहास में अब तक मनुष्य के रूप में पहचान के ऊपर जन, जाति, वर्ग-तबका, धन, आदि के रूप में पहचान हावी रहा है और इन पहचानों के बीच 'श्रेष्ठ-निम्न' की श्रेणियां रही हैं. मनुष्य खुद कोई 'आदर्श' प्राणी नहीं रहा है; उसके जनों, जातियों, पंथों, वर्गों, राष्ट्रों, आदि के बीच रक्तपात, युद्ध, जनसंहार, झूठ-फरेब,

जालसाजी, विश्वासघात, अनेक जघन्य विकृत आचरणों का अनवरत् सिलसिला आज तक चलता आ रहा है- आज दुनिया के मानचित्र पर नजर डालने भर से इस वीभत्स सिलसिले का अंदाजा लगाया जा सकता है.

बहरहाल, इसी रक्तपात और विकृतियों के बीच उसने आश्चर्यजनक आविष्कार भी किये हैं;उद्यमिता के हैरतअंगेज कारनामों को भी अंजाम दिया है; विचार और व्यवहार में मानवता, न्याय, प्रेम, सत्य, अहिंसा, त्याग, आदि के अप्रतिम उदाहरण भी पेश किये हैं; और कला-संस्कृति के क्षेत्र में एक-से-एक प्रतिमान कायम किये हैं. मनुष्य का यह द्वैत चरित्र खुद उसके मिथकों, उसकी अनेक कलाकृतियों और रचनाओं में भी प्रभावी रूप से अभिव्यक्त हुआ है. आज भी हम व्यक्ति और समाज के रूप में विरासत में प्राप्त इस द्वैत को, (एक ही साथ और एक ही समय में) अपनी विकृत क्षुद्रताओं तथा उत्कृष्ट उदात्त भावों को जी रहे हैं.

इस पृष्ठभूमि में हम पाते हैं कि किसी एक क्षेत्र में अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति किसी दूसरे क्षेत्र में अत्यन्त निंदनीय/अमानवीय भूमिका में खड़ा होता है. विज्ञान के क्षेत्र में अपने आविष्कार से मानवजाति को समृद्ध करनेवाला कोई वैज्ञानिक नस्लवादी भी हो सकता है. कला की दुनिया में अपनी कृतियों से चकित करनेवाला कलाकार स्त्रियों को प्रताड़ित करनेवाला मर्दवादी भी हो सकता है. भाषा-साहित्य में अपने अतुलनीय योगदान के लिए जाना जानेवाला व्यक्ति जातीय भेदभाव और उत्पीड़न पर आधारित ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था का समर्थक हो सकता है. अपनी उद्यमिता से शानदार कारनामों को अंजाम देनेवाला व्यक्ति दास-प्रथा अथवा श्रमिकों के शोषण का हिमायती भी हो सकता है. आदि, आदि. अपने भीतर तथा अपने आसपास नजर दौड़ाकर ही हम इस सत्य का सहज साक्षात्कार कर सकते हैं.

ऐसी स्थिति में, एक (असंभव) आदर्श नायक की तलाश में लगे रहने, अथवा एक (निष्क्रिय) सार्विक निंदक की भूमिका अपनाने के बजाय हमें जीवन के किसी भी क्षेत्र में सकारात्मक योगदान करनेवाले को समुचित सम्मान देने तथा अन्य क्षेत्रों में, प्रसंगानुसार, उसके नकारात्मक विचारों और आचरणों की आलोचना करने की संतुलित दृष्टि अपनानी चाहिए. यह दृष्टि मानवजाति की समस्त सकारात्मक विरासत से हमें जोड़ती है, न्याय के पक्ष में प्रत्येक संभावित समूहों को एकजुट करने में सहायता प्रदान करती है, और सर्वोपरि, ज्ञान और व्यवहार के क्षेत्र में खुद को'आदर्श' समझने अथवा

'न्यायाधीश' की भूमिका अपनाने के भ्रमजाल से मुक्त कर विनम्र बनाती है. यह विनम्रता न्याय की स्वाभाविक सहचर है, जिसके बिना न्याय का कोई साझा मंच या संघर्ष व्यावहारिक रूप से सफल नहीं हो सकता.

इसलिए, मिथकों, इतिहास, नायकों, आदि के प्रश्नों से आगे जाकर हमें न्याय के साझा कार्यक्रमों और कार्यभारों के आधार पर साझा मंच और साझा संघर्ष विकसित करने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और उन्हीं आधारों पर एकजुट होना चाहिए. अन्य प्रश्नों पर हमें एक दूसरे को समझने, विभिन्न परिप्रेक्ष्यों और दृष्टियों को यथोचित स्थान देने तथा असहमति के बिन्दुओं पर स्वस्थ संवाद चलाते रहने का प्रयास करना चाहिए. यह पद्धति हमें निरर्थक विवादों और गुटबंदियों में अपनी ऊर्जा बर्बाद करने के बजाए, न्याय के प्रश्न पर बनी व्यापक सहमति को धरातल पर उतारने के वैचारिक तथा व्यावहारिक प्रयासों पर ध्यान केन्द्रित करने की ओर प्रोत्साहित करती है.

'सत्य' का 'एकमात्र' अधिकारी होने के अहंकारपूर्ण दावों ने न्याय के आन्दोलनों को समय-समय पर काफी क्षति पहुंचाई है. इस क्षुद्र अहंकार के विपरीत विनम्रता के महत्व को समझने के लिए किसी किताबी ज्ञान की जरूरत नहीं- सिर्फ अपने शरीर और मन पर ही नजर दौड़ाना काफी है. हम अपने रोजमर्रे के जीवन में चलते-फिरते-काम करते विरासत में प्राप्त न मालूम कितने ज्ञान ढोते होते हैं- जो कपड़ा हम पहने होते हैं, उसके पीछे हजारों वर्षों पुरानी ज्ञान परम्परा है; हम नहीं जानते कब किसने कपास उगाया, किसने उसे ओटा, किसने सूत काता, कपड़ा बुना. यही बात हमारे जूतों, कलमों, चश्मों, घड़ियों, मोबाइल, आदि पर भी लागू होती है. हम हमेशा न मालूम कितना ज्ञान-कोष अपने साथ लिए चलते हैं. हमें उनके आविष्कारकों-कारीगरों का पता नहीं होता, न हमें उन आविष्कारकों-कारीगरों की वैचारिक-राजनीतिक-सामाजिक प्रतिबद्धताओं का पता होता है. यह लिखते वक्त भी हमें याद रखना चाहिए कि लिपियों के विकास में हजारों वर्षों के काल-क्रम में अनेक समाजों और व्यक्तियों का योगदान रहा है. किसी ने वर्णमाला की पोथियां लिखीं, किसी ने व्याकरण की- इन रचनाओं के अभाव में न धर्मग्रंथ लिखे जाते, न महाकाव्य, न 'वेल्थ ऑफ नेशन्स', न 'विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वूमेन', न 'केपिटल', न 'चीफ सिएटल का मेमोरेंडम', और न 'एनिहिलेशन ऑफ कास्ट'. आज भी इस तरह के कार्यों के महत्व को कम करके नहीं आंकना चाहिए. हमारी मानसिक दुनिया भी विरासत में प्राप्त अनेक विचारों, साहित्यिक

कृतियों, आदि से आच्छादित रहती है और हमारे अपने निष्कर्षों-निर्णयों को न मालूम कितने रूपों में प्रभावित करती रहती है.

ज्ञान की इस दुनिया में विचरते हुए हमें यह अहसास होना चाहिए कि इस दुनिया में हमारा अपना योगदान लगभग शून्य है (और अगर हम विरासत में प्राप्त ज्ञान को भी संभाल पाने में असमर्थ हैं, तो हमारा योगदान नकारात्मक ही माना जाएगा). फिर कैसा अहंकार ? विनम्रता और इस विनम्रता पर आधारित स्वस्थ, सार्थक संवाद अनेक समुदायों, वर्गों, तबकों, आदि में विभक्त मानवजाति को न्याय के आधार पर एकजुट करने की प्रारंभिक शर्त है. न्याय यदि एक जाति के रूप में हमारी दावेदारी का आधार है तो विनम्रता इस दावेदारी के क्रियान्वयन की पूर्वशर्त.

(ग) अनेक जन-विद्रोहों, जन-आन्दोलनों तथा जन-क्रान्तियों के जरिये न्याय से वंचित समुदायों, वर्गों तथा राष्ट्रों ने कई अधिकार हासिल किये हैं, इन अधिकारों को संवैधानिक-कानूनी मान्यता प्राप्त हुई है और उनके संरक्षण, क्रियान्वयन तथा विस्तार के लिए कई संस्थाएं भी अस्तित्व में आई हैं. प्रत्येक अधिकार विद्रोह का संवैधानिक अवतार है और इसलिए इन अधिकारों को निरस्त करने अथवा उसमें कटौती करने का मतलब है विद्रोह की स्थिति में वापसी. इस प्रकार प्रत्येक अधिकार में ही विद्रोह का अधिकार भी अन्तर्निहित है.

अनेक विद्रोहों तथा आन्दोलनों के जरिये ही आदिवासी समुदायों वाले क्षेत्रों में पृथक काश्तकारी कानून बने, और आगे चलकर उन क्षेत्रों को विभिन्न स्तर की स्वायत्तता प्रदान करने के लिए हमारे संविधान में पांचवीं, छठी तथा सातवीं अनुसूची का प्रावधान किया गया. जनजातीय भाषाओं को मान्यता मिली, शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में विशेष अवसर प्रदान करने के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई और पृथक वित्तीय निगमों, प्रशिक्षण संस्थानों, सलाहकार बोर्डों तथा परिषदों की स्थापना की गई.

देश-दुनिया में अनेक जुझारू संघर्षों और क्रान्तियों के बाद मजदूर वर्ग को संगठन, आठ घण्टे काम के दिन तथा हड़ताल का अधिकार हासिल हुआ. सम्प्रभुता का अधिकार राष्ट्रीय आन्दोलन का परिणाम है, तो अभिव्यक्ति की आजादी, सार्विक वयस्क मताधिकार, आदि व्यापक जनवादी आन्दोलनों का. स्त्रियों को मताधिकार, बाल-विवाह पर रोक, सम्पत्ति में हिस्सेदारी, यौन-हिंसा तथा उत्पीड़न के खिलाफ कानून, घरेलू हिंसा के खिलाफ कानून, आदि नारी आन्दोलन की देन है.

इसी तरह सामाजिक न्याय के लिए चलाए गए व्यापक जन-आन्दोलनों के जरिये ही इस आन्दोलन की कुछ प्राथमिक मांगों ने संवैधानिक रूप ग्रहण किया- दलित तथा पिछड़े वर्गों के लिए सरकारी रोजगार और शिक्षा के क्षेत्र में आरक्षण का प्रावधान किया गया, इन वर्गों के अधिकारों के संरक्षण तथा अनुपालन के लिए आयोगों का गठन किया गया, और कुछ अन्य सकारात्मक कदम उठाए गये. पर्यावरण संरक्षण और प्रदूषण से मुक्ति के लिए चलनेवाले आन्दोलनों के फलस्वरूप पर्यावरण संरक्षण तथा प्रदूषण नियंत्रण से सम्बन्धित कानून तथा ग्रीन ट्रिब्युनल बने. ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के विकास को गति मिली.

यहां हम जन-आन्दोलनों और इन आन्दोलनों के संवैधानिक-कानूनी अधिकारों में रूपान्तरण का कोई विवरण नहीं दे रहे हैं. सिर्फ यह दिखाने का प्रयास कर रहे हैं कि कैसे प्रत्येक अधिकार विद्रोहों तथा जन-आन्दोलनों का ही संवैधानिक-कानूनी अवतार है और इन अधिकारों की वापसी का मतलब है विद्रोह तथा आन्दोलनों की स्थिति की बहाली.

उपर्युक्त अधिकारों पर एक नजर डालने से ही यह स्पष्ट हो जाएगा कि ये अधिकार न्याय के आन्दोलन के नजरिये से बस प्राथमिक अधिकार ही हैं और यह कि इन प्राथमिक अधिकारों के क्रियान्वयन की स्थिति तो और भी दयनीय है. उनका (अधिकांश मामलों में) पालन कम और उल्लंघन ही ज्यादा होता रहा है. इन अधिकारों के संरक्षण, अनुपालन और विस्तार के लिए जो संस्थाएं बनाई गईं, उनकी स्थिति प्रायः खस्ताहाल ही रही है.

यह स्थिति दो जरूरी चीजों की ओर इशारा करती है- एक तो अधिकारों को मान्यता मिलने के बाद भी जन-आन्दोलनों का दबाव बनाये रखना जरूरी है; दूसरा, इन अधिकारों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए सत्ता के संगठनों में (विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका में) इन आन्दोलनों से जुड़ी शक्तियों की प्रभावकारी उपस्थिति जरूरी है (हमारे संविधान में अगर इस प्रकार के कुछ बुनियादी अधिकारों को मान्यता मिली तो इसकी एक बड़ी वजह यह थी कि इन अधिकारों के पक्ष में खड़ा होनेवाला और न्याय के आन्दोलन से जुड़ा एक प्रभावकारी समूह संविधान सभा का सदस्य था, और खुद बाबासाहेब अम्बेडकर की संविधान तैयार करने में अहम् भूमिका थी). इसके अलावा, जनमत का दबाव बनाये रखने के लिए बौद्धिक मंडलियों, मीडिया, आदि में भी असरदार

ढंग से हस्तक्षेप आवश्यक है. (इस तरह के आन्दोलनों से जुड़े जो लोग सत्ता में भागीदार रहे, उनकी भूमिका भी इस लिहाज से अत्यन्त असंतोषजनक ही रही. इस का एक प्रमुख कारण यह है कि एक बार सत्ता हासिल कर लेने के बाद उनकी प्राथमिकता सत्ता में किसी तरह बने रहना हो जाता है और इसके लिए वे अनेक अवसरवादी समझौतों में लिप्त हो जाते हैं. जिन आन्दोलनों और कार्यक्रमों की बदौलत वे सत्ता में पहुंचे, उन्हें आगे बढ़ाना उनकी कार्यसूची में पीछे चला जाता है).

बहरहाल, तुलनाएं हम अतीत से करते हैं, लेकिन योजना हम अपने लक्ष्य को सामने रखकर बनाते हैं. अतीत से तुलना करने पर हमें न्याय के लिए होनेवाले आन्दोलनों की उपलब्धियों का आभास होता है, जबकि लक्ष्य को सामने रखकर योजना बनाते समय हम पाते हैं कि ये उपलब्धियां तो बस शुरुआत भर हैं, कि अभी कितना कुछ करना बाकी है.

उपलब्धियां हैं. इन समुदायों, वर्गों, आदि की आज जवान हो रही पीढ़ी को यह जानकर कुछ हैरत तो होती ही है कि आज से सौ साल पहले उनके पूर्वजों को ऐसे कुछ प्राथमिक अधिकार भी प्राप्त नहीं थे, कि बोलने, सम्मान के साथ जीने के अधिकार के लिए उन्हें कितना संघर्ष करना पड़ा, कितनी यातनाएं सहनी पड़ीं और कितनी कुर्बानियां देनी पड़ीं, कि उनके समुदाय में शायद ही कोई साक्षर था, और कि सत्ता के संगठनों में उनके समुदायों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था.

लक्ष्य को सामने रखकर देखें तो पाएंगे कि इतने लम्बे संघर्ष और कुर्बानियों के बावजूद, सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, खासकर उच्च शिक्षा, मीडिया, न्यायपालिका, आदि में उनकी उपस्थिति कुछ खास नहीं है. विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में तो उनकी भागीदारी नगण्य ही है, उद्यम-व्यवसाय, कला-संस्कृति के क्षेत्र में भी यही हाल है. सार्विक वयस्क मताधिकार पर आधारित राजनीतिक जनतंत्र तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण के कारण राजनीतिक सत्ता में उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण भागीदारी तो हासिल की है, लेकिन शिक्षा और सम्पत्ति से ऐतिहासिक रूप से वंचित रहने के कारण सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समानता और सम्मान का स्थान ग्रहण करने में अब भी काफी लम्बा सफर तय करना बाकी है. सामाजिक जीवन में (खासकर दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों के साथ) भेदभाव, उत्पीड़न और हिंसा की घटनाएं आज भी बदस्तूर जारी हैं.

इसके साथ, अगर हम न्याय के आन्दोलनों के सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतीकों को समाज में प्रतिष्ठित करने, इतिहास के पुनर्लेखन, पाठ्यपुस्तकों में न्याय के आन्दोलनों, उनके नायकों को स्थान दिलाने, समाज में विभिन्न रूपों में जड़ जमा चुकी अन्यायपूर्ण प्रथाओं, रूढ़ियों, कर्मकाण्डों, विचारों के खिलाफ वैचारिक-सांस्कृतिक अभियान चलाने की महती चुनौती को जोड़ दें तो आज न्याय के आन्दोलन के समक्ष जो गंभीर कार्यभार उपस्थित हुआ है, उसका सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है.

इस संदर्भ में यह ध्यान देना जरूरी है कि समुदाय-आधारित आन्दोलनों में कभी पूरे-के-पूरे समुदाय की एक रूढ़ छवि बनाने, पूरे समुदाय को शत्रु के रूप में चिह्नित करने, उसके खिलाफ घृणा फैलाने, हर समस्या के लिए उसे दोषी ठहराने, जैसी प्रवृत्तियों का हमेशा पुरजोर विरोध करना चाहिए. हर समुदाय में कमोबेश हर तरह के लोग होते हैं. किसी खास मामले में, खास मौकों पर अगर कुछ विध्वंसक शक्तियां अपने समुदाय की गोलबंदी में सफल भी हो जाती हैं, तब भी आम लोगों और ऐसी विध्वंसक शक्तियों के बीच फर्क को कभी भूलना नहीं चाहिए. यह प्रवृत्ति अन्ततः समुदाय-आधारित हिंसा-प्रतिहिंसा और जनसंहार के बर्बर कृत्य की ओर ले जाती है. जनसंहार के प्रतिकार में जनसंहार की प्रवृत्ति न्याय के वृहत्तर आन्दोलन को भारी क्षति पहुंचाती है.

(घ) जनतांत्रिक राजनीतिक प्रणाली ऐतिहासिक रूप से एक नई प्रणाली है. मानवजाति ने जिन राजनीतिक प्रणालियों के अन्तर्गत अपना लम्बा वक्त बिताया है, वे जनतंत्र के आगमन के साथ एकबारगी खत्म नहीं हो गईं. वे हमारे राजनीतिक जीवन में गहरे रूप से समाई हुई हैं- हमारे अधिकांश दल तथा संगठन सरदारी-प्रथा, वंशानुगत नेतृत्वकारी तंत्र, सम्प्रदायों/मठों/डेरों वाली सर्वसत्तावादी संरचनाओं द्वारा ही संचालित हैं. हां, राजनीतिक सत्ता हासिल करने के लिए उन्हें सार्विक वयस्क मताधिकार पर आधारित जनतांत्रिक चुनाव प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है. जनता के बीच विरासत में प्राप्त अनेक सम्प्रदायों, विचार-परम्पराओं, मठों, आदि का प्रभाव बड़े पैमाने पर मौजूद है, और उनकी गोलबंदी के दौरान इन प्रभावों का भी भरपूर प्रयोग किया जाता है. इसके अलावा, उत्पादन तथा सूचना के साधनों पर मुट्ठी भर धनकुबेरों की इजारेदारी, धन-बल तथा सत्ता-बल का आक्रामक सम्मिलित उपयोग न्याय के पक्ष में जनसमुदाय की व्यापक गोलबंदी को काफी चुनौतीपूर्ण बना देता है. इन बाधाओं के बावजूद, अनेक महत्वपूर्ण मोड़ों पर न्याय की शक्तियों की सामान्य, तात्कालिक एकजुटता के सामने अन्याय की शक्तियों को शिकस्त खानी पड़ी है.

उपर्युक्त यथार्थ स्थितियां हमें किसी आदर्श, अमूर्त स्थिति से चीजों, घटनाओं, आदि को समझने, उनका मूल्यांकन करने से बचाती हैं, और सामाजिक रूप से उपयोगी, व्यावहारिक कार्यक्रमों तथा कार्यभारों के निर्धारण में मदद पहुंचाती हैं.

(ङ) समाज में राजनीतिक क्रान्तियों का काल अपेक्षाकृत संक्षिप्त ही होता है. विचार और व्यवहार के स्तर पर हर समय गैर-क्रान्तिकाल में अनेकों उपयोगी, परिवर्तनमूलक काम होते रहते हैं. लम्बे समय तक चलनेवाले ऐसे कार्य ही घनीभूत होकर क्रान्ति-काल में विस्फोट का रूप धारण करते हैं और समाज एक नये युग में प्रवेश कर जाता है. इसीलिए 'क्रान्तिकारी कार्य' करने के अहं में समाज में निरन्तर किये जा रहे परिवर्तनमूलक, उपयोगी तथा न्याय को विस्तार देनेवाले कार्यों को न तो तुच्छ दृष्टि से देखना चाहिए, न ही उन्हें अनदेखा करना अथवा उसके महत्व को कम करके आंकना चाहिये. दरअसल, 'क्रान्तिकारी कार्य' करने का दावा करने वाले प्रायः अपने आसपास होनेवाले अनेको उपयोगी कार्यों को देख नहीं पाते, और जो किया जा सकता है, उसकी भी उपेक्षा कर खोखली लफ्फाजी के शिकार हो जाते हैं.

(च) लम्बे काल तक चलनेवाला बड़ा जन आन्दोलन जिसमें अनेक समुदायों के लोग शामिल होते हैं, ऐसे नेतृत्व की मांग करता है जो समुदायों की संकीर्ण दुनिया से ऊपर उठा हो और जो निष्पक्षता के साथ प्रत्येक समुदाय के वाजिब हितों की रक्षा कर सके तथा उनके बीच मध्यस्थ की भूमिका अदा कर सके. यथार्थ जगत में ऐसा अमूर्त नेतृत्व मौजूद नहीं होता. हर नेता किसी-न-किसी समुदाय/वर्ग/तबके से अथवा किसी-न-किसी विशिष्ट क्षेत्र या हित से सम्बद्ध होता है. ऐसे समुदाय-विशेष के नेता के प्रति दूसरे समुदायों के नेताओं या खुद उसके अपने समुदाय के विभिन्न लोगों के अपने पूर्वाग्रह या फिर मतभेद हो सकते हैं जिसके कारण उसकी सर्वस्वीकार्यता बाधित हो सकती है. इसीलिए ऐसा आन्दोलन अपने विकास-क्रम में अपने किसीमूर्त, समुदाय-विशेष के नेतृत्व में अमूर्तता का आरोपन कर उसे भगवान, महात्मा, स्वामी, संत या करिश्माई रूप में प्रस्तुत कर इस जरूरत को पूरा करता है. फिर उस नेतृत्व के इर्दगिर्द अनेक मिथक गढ़े जाने लगते हैं और सम्बन्धित नेतृत्व भी अमूर्तता के मानकों पर खड़ा उतरने की कोशिश करता है. यह प्रक्रिया आन्दोलन के पूरे क्रम में चलती रहती है- नेताओं के समूह में कौन इस अमूर्तता से महिमामण्डित होता है, यह बहुत हद तक सम्बन्धित व्यक्ति के निजी रुझानों, उसके इतिहास तथा यथार्थ आन्दोलनों में मध्यस्थ के रूप में उसकी योग्यता पर निर्भर करता है.

ऐसे नेतृत्व का जीवन मूर्त जरूरतों और अमूर्त अपेक्षाओं के विरोधाभास के बीच गुजरता है- उसके आलोचक अथवा विरोधी उसके मूर्त क्रियाकलापों का हवाला देकर उसके 'अमूर्त मध्यस्थ'होने के दावों का भण्डाफोड़ करते हैं, उसे ढ़ोंगी या पाखण्डी करार देते हैं, जबकि उसके अनुयायी उसकी 'अमूर्तता' को आन्दोलन की धरोहर और उसकी कामयाबी की गारंटी मानते हैं. उसकी अमूर्त छवि में लोग 'मानवता का कमोबेश आदर्श रूप' ढ़ूंढ लेते हैं.

(छ) इसी तरह, लम्बे समय तक चलनेवाले राजनीतिक आन्दोलनों में कार्यकर्ताओं के बीच श्रम-विभाजन भी जड़ जमा लेता है. यह श्रम-विभाजन आन्दोलन के आरम्भिक दिनों में जहां आन्दोलनकारी संगठन की कार्यकुशलता तथा नवाचारिता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, वहीं बाद के दौर में (खासकर जब वह आन्दोलन अपना राजनीतिक लक्ष्य हासिल करने में नाकामयाब हो) इस श्रम-विभाजन का नकारात्मक परिणाम प्रभावी हो जाता है. एक ही तरह के काम को साल-दर-साल दिनचर्या के रूप में करते रहना सम्मोहक जड़ता तथा मानसिक शिथिलता का सबब बन जाता है. इस जड़ता के बन्दीगृह में आत्म-मूल्यांकन में असमर्थ, आत्म-मुग्ध सार्विक निन्दक की स्थिति उसकी नवाचारिता की क्षमता को सदा के लिए कुंद कर देती है.

# जाति का खात्मा

जातियों के उद्भव और विकास के इतिहास में गये बगैर हम यहां कुछ सामान्य विवरणों तक ही खुद को सीमित रखेंगे. जाति के खात्मे पर चर्चा के दौरान निम्नलिखित तथ्यों पर गौर करना चाहिए :

(क) हजारों वर्षों के जन-समाज के दौरान ही श्रम-विभाजन अस्तित्व में आने लगा था और जनों के बीच विभिन्न रूपों में विनिमय भी. जन के अन्दर ही विभिन्न समूह उभरने लगे थे- सरदार, पुरोहित, काष्ठकर्मी, धातुकर्मी, पशुपालक, मछुआरे, बागबानी करनेवाले या प्रारम्भिक खेतिहर, आदि. चार प्रमुख श्रेणियां भी उसी दौर में सामने आ चुकी थीं- सरदार, पुरोहित, विनिमय से जुड़ा समूह, और विभिन्न उत्पादक पेशों तथा सेवा-कर्म से जुड़ा आम जनसमुदाय. जन अन्तर्विवाही समूह थे और उसकी सदस्यता जन्म से ही निर्धारित थी.

(ख) जन-समाज से कृषि-समाज में संक्रमण की सैकड़ों वर्षों की प्रक्रिया में जातियों का उद्भव और व्यापक प्रसार हुआ. यह प्रक्रिया राजनीतिक रूप से सरदारी-प्रथा से जनपदीय राजतंत्रों तथा साम्राज्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया भी थी. साथ ही यह सामाजिक स्तर पर नये-नये पंथों-सम्प्रदायों के उदय का काल भी था. पूरे भारतवर्ष में विभिन्न अंचलों में यह प्रक्रिया समानान्तर रूप से संपन्न नहीं हुई- इस संक्रमण की रफ्तार, उसका स्वरूप अलग-अलग अंचलों में अपनी विशिष्टताएं लिए हुई थीं. इस दौर में जनों और कृषि-आधारित जनपदों के बीच युद्धों समेत विभिन्न स्तरों पर विनिमय और आदान-प्रदान भी चलता रहा.

(ग) वैसे तो कई जन कृषि-समाज में जातियों के रूप में शामिल हो गये, फिर भी अधिकांश मामलों में, विभिन्न जनों के समान पेशेवाले समूह एक जाति-समुदाय के रूप में सामने आये. अधिकांश कारीगर तथा पशुपालक जातियों का नाम उनके पेशों के नाम पर ही आधारित है. खेतिहर समूहों के आंचलिक नामों के कारण उन जातियों के नामों में विविधता मिलती है. विभिन्न जनों के समान पेशा-आधारित समूहों का एक जाति-समुदाय के रूप में उभरना जन का अतिक्रमण था और यह प्रक्रिया भी सैकड़ों वर्षों में संपन्न हुई.

बहरहाल, विभिन्न जनों के समान पेशावाले समूहों का यह संगठन भी जन के स्वरूप में संपन्न हुआ- यानी, अन्तर्विवाही समुदायों के रूप में. इस प्रकार जातियां जन के स्वरूप में जन का अतिक्रमण थीं.

(घ) चूंकि जातियों में विभिन्न जनों के समूह शामिल हुए, इसीलिए उनकी नस्ल-आधारित प्रोफाइलिंग की अनेक कोशिशें नाकाम रहीं. नस्ल-आधारित मानदण्डों (नासिका-सूचकांक, रंग, जबड़ा, आदि) पर एक ही जाति में पर्याप्त विविधता पाई गई (कुछेक अपेक्षाकृत अलग-थलग पड़े जनों तथा जातियों को छोड़कर).

दूसरी ओर, जातियों की व्यवस्था के स्थिर तथा स्थाई हो जाने की स्थिति में पिछले करीब दो हजार, डेढ़ हजार या एक हजार वर्षों से अन्तर्विवाही समुदाय के रूप में रहने के कारण आज के आनुवंशिकी वैज्ञानिकों तथा मानवशास्त्रियों की भी जातियों के अध्ययन में काफी दिलचस्पी बनी हुई है.

(ङ) 'श्रेष्ठ-निम्न' के सोपानवाली संरचना भी भ्रूण रूप में जन-समाज में ही जन्म ले चुकी थी- ज्ञान, शासन और धन से जुड़े समूह 'श्रेष्ठ' तथा श्रम एवं सेवा से जुड़े समूह 'निम्न' माने जाने की प्रक्रिया भी तब ही शुरू हो चुकी थी. ये 'श्रेष्ठ' समूह अनेक विशेषाधिकारों से संपन्न होने लगे थे. आगे चलकर इन 'श्रेष्ठ' समूहों के बीच वर्चस्व की होड़ होने लगी और 'निम्न' समझे जाने वाले समूहों को काल-क्रम में उन सामान्य, मानवीय अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया जो उन्हें पहले जन के सदस्य के रूप में प्राप्त थे.

इसी प्रक्रिया में आगे चलकर जन्मना 'श्रेष्ठ-निम्न' के सोपान पर आधारित उस जाति-व्यवस्था ने आकार ग्रहण किया जिसे धर्म-सूत्रों तथा स्मृति-ग्रंथों ने व्यवस्थित रूप दिया और जो भारतीय कृषि समाज का आधार बना.

यह प्रक्रिया काफी उथल-पुथल भरी थी क्योंकि यह विशाल भू-भाग अनेक जनों का क्रिया-स्थल था और नये-नये जनों का आना भी निरन्तर जारी रहा. इन जनों के बीच रंग, भाषा, जीवनयापन की विधियों के मामले में काफी विविधता थी. जन-समाज में संख्या-बल/शारीरिक बल काफी अहम भूमिका निभाता है. जाहिर है, जनों के बीच युद्ध में अनेक बड़े जन छोटे जनों को अपनी वास-भूमि से विस्थापित करने, उनका बड़े पैमाने पर संहार करने तथा उन्हें दास बना लेने में कामयाब हुए. अपेक्षाकृत विकसित उपकरणों तथा संसाधनों (जैसे, घोड़ों, रथों, आदि) से लैस कुछ छोटे जन भी कम समय में अपना विस्तार करने में समर्थ हुए होंगे. कृषि के विकास के साथ-साथ आसपास रहनेवाले

अनेक छोटे फलसंग्राहक-शिकारी जनों को जबरन भूदास के रूप में कृषि के साथ जोड़ा गया होगा.

इस प्रकार, शासक, पुरोहित, कारीगर, खेतिहर, सेवक जातियों के अपेक्षाकृत संतुलित अनुपात से युक्त उस स्वयंसम्पूर्ण ग्राम-समुदाय का उदय हुआ जो भारतीय कृषि समाज का केन्द्रक, उसकी कोशिका था. कृषि के प्रसार के साथ ही इन ग्रामों का भी क्षैतिज प्रसार हुआ. ये गांव जनपदीय राजतंत्रों तथा साम्राज्यों के राजस्व की बुनियादी इकाई थे. समाज की अतिरिक्त सम्पत्ति का सबसे बुनियादी स्रोत गांव ही था.

बहरहाल, अतिरिक्त सम्पत्ति का बुनियादी स्रोत यह इस कारण था कि इसका आधार बर्बर, उत्पीड़क जाति-प्रथा थी जहां शूद्र जातियों के रूप में सारा-का-सारा उत्पादक और सेवक समुदाय सम्पत्ति, शिक्षा और सम्मान से वंचित था. अन्त्यज जातियां अस्पृश्य थीं; वैसे विभिन्न स्तर की अस्पृश्यता से अन्य जातियां भी कमोबेश पीड़ित थीं. इन जातियों के जीने का अधिकार भी ब्राह्मण-क्षत्रिय जातियों के हाथों गिरवी था, उनका सारा जीवन इन मुट्ठी भर 'उच्च' जातियों द्वारा नियंत्रित था- बात-बात में मार-पीट, गाली-गलौच, किसी भी तरह के प्रतिकार की स्थिति में हत्या समेत भयानक दण्ड, आदि सामान्य बातें थीं. यहां इसके विस्तार में जाने की जरूरत नहीं- जाति-प्रथा की बर्बरता का हम अब भी प्रायः साक्षात् करते रहते हैं. इस उत्पीड़न के खिलाफ उत्पीड़ित जातियों की एकजुटता भी श्रेष्ठ-निम्न की सोपानमूलक व्यवस्था के कारण बाधित होती रही है.

यहां यह भी याद रखना चाहिए कि कुछेक भेदभाव (खासकर कर्मकाण्डीय मसलों पर) और टकरावों के बावजूद इस जाति-प्रथा के अन्तर्गत भी कृषक तथा कारीगर जातियों के बीच बहुत हद तक समानता और सम्मान का भाव बना रहा था. कुछेक दलित जातियों के बीच भी यही बात थी. आधुनिक काल में समय-समय पर उनकी एकजुटता की यह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि थी.

(च) इस इतिहास के साथ-साथ हमें कुछ अन्य पहलुओं पर भी ध्यान देना चाहिए. प्रायः वर्तमान की हमारी छवि अतीत के मूल्यांकन को भी प्रभावित करती है.

आज से दो-तीन हजार वर्ष पूर्व भारत की भौगोलिक स्थिति में बहुत ज्यादा परिवर्तन नहीं हुआ है, लेकिन आबादी में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है. मौर्य काल में (ईसा पूर्व चौथी सदी से ईसा पूर्व दूसरी सदी के बीच) भारत की आबादी दो करोड़ के आसपास आंकी गई है. संचार और परिवहन की तब की अवस्था का भी ध्यान रखिये. यदि बुद्ध के समय

से गुप्त काल तक (ईसा पूर्व छठी सदी से ईसा-उत्तर छठी सदी के बीच) के हजार वर्षों के दौरान भारत की आबादी दो से पांच करोड़ के बीच भी रखी जाए, तो कल्पना कीजिए, न सिर्फ नये-नये गांवों को बसाने का, बल्कि अनेक जनों के लिए नये नये क्षेत्रों में जा बसने का कितना अवसर मौजूद था. जनपदीय राजतंत्रों तथा साम्राज्यों के बागी समूहों के लिए भी भागकर और जंगल साफ कर नये राज्यों की नींव रखने की कितनी संभावनाएं थीं. खासकर बड़े राजतंत्रों तथा साम्राज्यों के पतन की स्थिति में अनेक नये-नये राजतंत्रों, जातियों-उपजातियों के उभरने के भरपूर प्रमाण मिलते हैं. यहां तक कि बड़े साम्राज्यों के काल में भी सुदूर इलाकों के क्षत्रप प्रायः स्वायत्त ही हुआ करते थे. इनमें से अनेक राजतंत्र मुख्यतः आदिवासी अथवा शूद्र समुदायों के राजतंत्र थे. अगर हम सिर्फ हर्षवर्धन के पतन और दिल्ली सल्तनत के बीच के काल में (करीब आठवीं सदी से बारहवीं सदी के बीच) भारत के विस्तृत भूभाग में छोटे-बड़े राजे-रजवाड़ों की सूची बनायें तो वर्तमान बिहार तथा उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में ही कई आदिवासी और शूद्र राज्यों की सूची मिल जाएगी. यहां इसके विस्तार में जाने के बजाए इतना कहना ही काफी होगा कि अमानवीय ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था के खिलाफ शूद्र जातियों के विद्रोह के फलस्वरूप जहां अवसर मिला, वहां उन्होंने अपना राज्य कायम किया. जातियों की सामाजिक स्थितियों में विभिन्न अंचलों में समय-समय पर कुछ संशोधन-परिवर्धन होता रहा और उनकी आर्थिक स्थिति तथा भूमि पर उनकी दावेदारी में भी कुछ परिवर्तन घटित हुए. लेकिन जाति-प्रथा आधारित समाज-व्यवस्था में कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ. [ वैसे यह तुलना उतनी सटीक नहीं है, फिर भी हम इस परिघटना की तुलना आज की स्थिति से कर सकते हैं. जैसे मजदूर किसान या छोटे व्यवसायी वर्ग का कोई सदस्य कालक्रम में पूंजीपति बन जाता है (मीडिया में ऐसे लोगों को मिसाल के रूप में पेश किया जाता है), और इस तरह की प्रक्रिया चलती रहती है, लेकिन इससे श्रम और पूंजी के बीच का सम्बन्ध प्रभावित नहीं होता, उसी तरह शूद्रों द्वारा अपना राजतंत्र कायम कर कुछेक भूमि-क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमाने तथा अपनी कर्मकाण्डीय स्थिति में कुछ सुधार कर लेने के बावजूद ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था जारी रहती है. यह तुलना पूरी तरह सटीक इसलिए नहीं है कि जातियों के जन्मना तथा अन्तर्विवाही होने के कारण शूद्र जाति के लोगों के समक्ष गतिशीलता की संभावना काफी सीमित थी और प्रायः वह कुछ खास कालावधि तक ही जारी रह सकती थी. ] प्रसंगवश, इसी अवधि में हम चौरासी

सिद्धों में कई शूद्र-सिद्ध-संतों का भी विवरण पाते हैं जिनकी हमारे साहित्य, खासकर अपभ्रंश साहित्य के विकास में अहम् भूमिका रही.

(छ) इतिहास में वैचारिक-सांस्कृतिक, सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक धाराएं अधिक दिनों तक समानान्तर रूप से नहीं चलती रहती हैं- खासकर जब हम शताब्दियों और सहस्राब्धियों के पैमाने पर बात करते हैं. समानान्तर धाराएं एक-दूसरे को समय-समय पर काटती हैं, उनका अन्तर्गुंथन चलता रहता है और इस अन्तर्गुंथन के परिणामस्वरूप नयी-नयी धाराएं बनती रहती हैं. कुछ धाराएं विलुप्त हो जाती हैं या सूख जाती हैं. संस्कृत, पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश के विपुल साहित्य में हम इन समानान्तर धाराओं, उनके अन्तर्गुंथन और नयी-नयी धाराओं के बनने-बिगड़ने की प्रक्रिया का साक्षात् कर सकते हैं.

इसी तरह, अमानवीय व्यवस्था को कोई भी जीवंत मानव समुदाय अधिक दिनों तक बर्दाश्त नहीं करता रहता- उसका विद्रोह अनेक रूपों में, अनेक किस्म के वैचारिक-सामाजिक आन्दोलनों तथा सम्प्रदायों में प्रकट होता रहता है. कालक्रम में ये आन्दोलन अपनी भूमिका निभाकर काल-कलवित हो जाते हैं. ये विद्रोह बेकार नहीं जाते- अपने-अपने समय और समाज को अपने ढंग से प्रभावित करते हुए और कुछेक सुधारों अथवा अधिकारों को अंजाम देते हुए आनेवाली पीढ़ी के लिए वे एक प्रेरणादायी विरासत छोड़ जाते हैं.

एक विद्रोही शूद्र राजा आगे चलकर एक क्षत्रिय राजा के रूप में ब्राह्मणों की स्वीकृति हासिल करने, राजसूय या अश्वमेध यज्ञ की लालसा में ब्राह्मणीय क्रमकाण्डों में लिप्त होकर ब्राह्मणों को भूमि दान कर निरंकुश राजा बन जाता है. एक जाति-विरोधी प्रगतिशील सामाजिक-वैचारिक आन्दोलन कालक्रम में अनेक सम्प्रदायों, शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होकर रूढ़िवादी कर्मकाण्डों में सिमट कर रह जाता. बुद्ध हों या वसव, रैदास हों, कबीर हों या घासीदास या अन्य भारत का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है. कोई भी धारा हजार वर्ष तो क्या कुछ ही शताब्दियों में वही नहीं रही जो उनके प्रवर्तकों के समय थी. ये प्रवर्तक भी अपने समय और समाज की वस्तुस्थितियों से बंधे होते हैं- न्याय के उनके विचारों की सार्विकता अथवा कालजयिता के बावजूद, उनके द्वारा सुझाये गये समाधान अपने समय और समाज की वस्तुस्थितियों के ही सापेक्ष होते हैं, सार्विक और कालजयी नहीं.

(ज) आज जातियों की स्थिति में काफी बदलाव आ चुका है. कुछ, खासकर दलित तथा अतिपिछड़ी जातियों को छोड़कर जो अब भी अपने परम्परागत पेशे पर निर्भर हैं, जातियों का पेशा आधार काफी हद तक खत्म होता जा रहा है या हो गया है. 'श्रेष्ठ-निम्न' के जातीय सोपान और इस आधार पर कर्मकाण्डों से लेकर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भेदभाव, उत्पीड़न, हिंसा, आदि को कोई संवैधानिक-कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है, बल्कि इस तरह का आचरण अनेक मामलों में संज्ञेय अपराध की श्रेणी में आता है. जातियां अब मुख्यतः जन्म-आधारित अन्तर्विवाही समुदाय हैं.

इस बदलाव के पीछे अनेक कारण हैं और बदलाव की यह प्रक्रिया औपनिवेशिक काल में ही आरम्भ हो गई थी. पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली का विकास (जिसका श्रम-संगठन कृषि-समाज के श्रम-संगठन से काफी भिन्न होता है), प्राथमिक स्तर पर ही सही शिक्षा का प्रसार, शहरीकरण, सत्ता के संगठनों में आरक्षण, सार्विक मताधिकार पर आधारित राजनीतिक जनतंत्र, इन वंचित समुदायों के बीच से मध्य वर्ग का उत्थान, और सर्वोपरि, पूरे देश में विभिन्न रूपों में इन वंचित समुदायों के सामाजिक आन्दोलनों, आदि ने इस बदलाव में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई.

बहरहाल, शिक्षा, सम्पत्ति तथा सत्ता से ऐतिहासिक रूप से वंचित और अनेक तरह के भेदभाव, अपमान तथा उत्पीड़न के शिकार इन अन्तर्विवाही समुदायों को आज भी सामाजिक रूप से अनेक किस्म के भेदभाव और उत्पीड़न का सामना कर पड़ रहा है. ऐतिहासिक रूप से इन वंचनाओं के कारण सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति और भागीदारी आज भी या तो नगण्य है या अत्यल्प. इस भागीदारी की राह में सामाजिक तथा प्रशासनिक स्तर पर अनेक बाधाएं खड़ी की जाती हैं. कुल मिलाकर, इन अन्तर्विवाही समुदायों के बीच समानता और परस्पर सम्मान का सम्बन्ध विकसित करना आज भी एक बड़ी चुनौती बना हुआ है.

यहां यह याद रखना चाहिए कि अन्तर्विवाही समुदाय इतिहास में लम्बे समय तक कायम रहते हैं- उनका विघटन और खात्मा आसान नहीं और वह हमारी मनोगत सदिच्छाओं पर निर्भर नहीं करता. गैर-अन्तर्विवाही समुदाय चंचल समूह होते हैं और उनमें पर्याप्त गतिशीलता होती है. यह सब हम अपने आसपास नजर दौड़ाकर ही देख सकते हैं. वर्ग अथवा पेशागत समूह, विभिन्न कार्यभारों को संपन्न करने के लिए बननेवाले समुदाय, आदि गैर-अन्तर्विवाही समुदाय हैं. नयी तकनीकों के आगमन के

साथ ऐसे कई पेशागत समुदायों का विघटन और खात्मा हम अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं. ऐसे समुदाय से जुड़े सदस्यों की गतिशीलता और उनका दूसरे समुदाय के सदस्यों में रूपान्तरण तो रोज घटता रहता है. कोई मजदूर अपने जीवनकाल में ही मध्यवर्ग का हिस्सा बन जाता है, मजदूर-किसान-मध्य वर्ग-पूंजीपति वर्ग के सदस्यों का एक-दूसरे में रूपान्तरण की क्रिया चलती रहती है. अन्तर्विवाही समुदायों और उनके सदस्यों में यह गतिशीलता नहीं होती- दलित जातियां उच्च शिक्षा ग्रहण कर लेने और समृद्ध हो जाने के बावजूद ब्राह्मण नहीं हो सकतीं. वर्ग बदल जाने के बाद भी वंचित जातियां अपनी जाति नहीं गंवातीं.

अनेक छोटे-छोटे समुदाय भी अन्तर्विवाही होने के कारण हजारो वर्षों से अपना अस्तित्व कायम रखने में सक्षम हुए हैं (वैसे उनके अस्तित्व में बने रहने की और भी कई वजहें हैं). हमारे देश में ही जरावा जन (और भी ऐसे ही कुछ जन) प्राचीनतम अन्तर्विवाही समुदाय हैं (लुप्त होने की कगार पर पहुंचा यह जन अब सरकारी संरक्षण में है). जन से बाहर यौन-सम्बन्ध को लेकर उनके अत्यन्त सख़्त नियम हैं. बहरहाल, वे लम्बे काल तक अलग-थलग और जीवनयापन के आदिम तरीकों पर ही निर्भर रहे. दूसरी तरफ भारत के पारसियों को लीजिए. यह अन्तर्विवाही समूह मुख्यतः विकसित, समृद्ध नगरवासी समुदाय है. संख्या में कम होने के बावजूद सैकड़ों वर्षों से चला आ रहा यह समुदाय आज अपने सदस्यों के बीच बढ़ रहे बहिर्विवाहों के कारण अपने अस्तित्व के संकट से गुजर रहा है- यह आजकल इस समुदाय के अन्दर आत्म-मंथन और तीखे विवाद का विषय है.

मनुष्य आम तौर पर कहीं भी सिर्फ मनुष्य की पहचान के साथ नहीं जीता. वह मानवेतर प्राणियों अथवा सृष्टि के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य (या फिर कल्पित 'एलिएंस') के संदर्भ में ही मनुष्य के रूप में अपनी पहचान के साथ उपस्थित होता है. अन्यथा वह किसी-न-किसी अपेक्षाकृत स्थिर या चंचल समुदाय के सदस्य के रूप में ही पहचाना जाता है- ज्यादातर अपेक्षाकृत स्थिर, अन्तर्विवाही समुदायों के सदस्य के रूप में. जातियों के साथ-साथ ज्यादातर पंथ-सम्प्रदाय, राष्ट्रीयताएं, जन, आदि अन्तर्विवाही समुदाय ही हैं और ऐसे सारे समुदाय इतिहास में सैकड़ों वर्षों से विद्यमान हैं.

इसीलिए, जाति का खात्मा हमारी मनोगत सदिच्छा पर निर्भर नहीं करता. यह जाति के खात्मे के अमूर्त नारे अथवा मनोगत रोडमैप तैयार करने, और कुछ सकारात्मक किन्तु

सतही कदम उठाने से खत्म नहीं होगा. जाति के खात्मे के अमूर्त नारे के पीछे ऐसी शक्तियां भी खड़ी हो जा सकती हैं जिनका उद्देश्य जाति-आधारित आरक्षण तथा सकारात्मक कदमों को कमजोर करना और निरस्त करना है.

(झ) जाति के खात्मे की दिशा में पहला काम समुदायों के बीच समानता और सम्मान का सम्बन्ध कायम करना है. समानता और पारस्परिक सम्मान का सम्बन्ध कायम करने की पूर्वशर्त है ऐतिहासिक रूप से वंचित समुदायों को विशेष अवसर प्रदान करना और उनके पक्ष में पक्षपातपूर्ण सकारात्मक कदम उठाना ताकि सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी प्रभावकारी उपस्थिति और सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जा सके. जाहिर है, इन समुदायों के साथ हुए भेदभावों, उत्पीड़न और हिंसा तथा उन पर थोपी गई वंचनाओं के कारण यह एक दीर्घकालीन कार्य है. जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उनकी उपस्थिति और भागीदारी जितनी बढ़ती जाएगी, समुदायों के टकरावों के बावजूद समानता और सम्मान का भी विकास होगा, अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या भी बढ़ेगी और जातीय पूर्वाग्रहों तथा जकड़नों में भी कमी आएगी. विभिन्न जातियों की आबादी, जातियों के बीच सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक विषमताओं, आदि को देखते हुए हम समझ सकते हैं कि यह प्रक्रिया कितनी जटिल, कितनी उथल-पुथल और टकराव भरी होगी. हम वर्तमान समय में इसी प्रक्रिया से गुजर रहे हैं. इस प्रक्रिया में, जैसा कि कोई भी देख सकता है, जातीय उभारों और टकरावों के बावजूद अतीत की तुलना में इन अन्तर्विवाही जातीय समुदायों के बीच समानता और सम्मान का भाव (खासकर पिछड़े वर्गों और सवर्ण जातियों के बीच और कुछ हद तक दलित जातियों के प्रति भी) विकसित हुआ है- इससे भारतीय समाज अन्दरूनी तौर पर विभिन्न स्तरों पर समृद्ध हुआ है, न कि कमजोर. हाल के दशकों में हम भारतीय समाज की जिस अन्दरूनी गतिशीलता और सृजनशीलता का साक्षात् करते हैं, उसके पीछे एक बड़ी वजह प्राथमिक स्तर पर ही सही वंचित समुदायों का आंशिक सशक्तीकरण ही है. वर्चस्वशाली ब्राह्मणवादी शक्तियां इसलिए इस पूरे दौर की अत्यन्त नकारात्मक छवि पेश करती हैं.

इसीलिए यह जरूरी है कि आरक्षण समेत विशेष अवसर प्रदान करने तथा वंचित समुदायों के हित में सकारात्मक पक्षपातपूर्ण कदम उठाने के कार्यक्रम को और अधिक कारगर ढंग से जारी रखा जाए और उसका विस्तार किया जाय. यहां यह याद रखना चाहिए कि आरक्षण का प्रावधान विभिन्न राज्यों में अलग-अलग समय में लागू हुआ तथा सत्तर और अस्सी के दशक में ही इसने (प्रदेश स्तर पर) सार्विक रूप ग्रहण किया.

केन्द्रीय स्तर पर तो यह सरकारी नौकरियों के क्षेत्र में नब्बे के दशक में अमल में लाया गया तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में (जिसे अभी तक ठीक से अमली जामा पहनाना बाकी है). ऐतिहासिक रूप से देखें तो इन क्षेत्रों में वंचित समुदायों का आना तो अभी शुरू ही हुआ है.

इसके साथ यह तथ्य भी जोड़ दें कि जबसे इस तरह के कदमों की शुरुआत हुई तब से ही सवर्ण समुदाय के कट्टर रूढ़िवादी समूहों द्वारा इनके खिलाफ निरन्तर विष वमन जारी है- यह जघन्य अभियान सारतः वंचित समुदायों के खिलाफ घृणा फैलाने के अपराध की श्रेणी में आता है. भारत की हर समस्या के लिए- कुशासन, भ्रष्टाचार, आर्थिक गतिरोध, सामाजिक अवनति, अपराध, कार्यकुशलता में ह्रास, आदि के लिए- आरक्षण को दोषी ठहराया जाता है मानो आरक्षण-पूर्व भारत बड़ा ही सुशासित, विकसित, कार्यकुशल, भ्रष्टाचार तथा अपराध-मुक्त देश था! इस घृणा प्रचार के पीछे दरअसल वंचित जातियों के प्रति सदियों पुरानी जातिवादी घृणा ही काम करती है. आर्थिक न्याय और सामाजिक न्याय, गरीबी-उन्मूलन और सामाजिक सशक्तीकरण का घालमेल कर और आर्थिक आधार पर आरक्षण की वकालत कर वंचित समुदायों के संवैधानिक अधिकार को ही चुनौती देने और खत्म करने की कोशिश की जाती है. आरक्षण के जरिये सरकारी नौकरियों में और शिक्षा के क्षेत्र में अपनी थोड़ी-बहुत जगह बनाने वाले वंचित समुदाय के लोगों को अपनी रोजमर्रे की जिन्दगी में, अपने कार्यस्थलों में अनेक अपमानजनक स्थितियों और तानों का शिकार बनाया जाता है. समाज में सदियों से गहरे रूप से जड़ जमा चुकी ब्राह्मणवादी जातिवादी व्यवस्था के कारण आम तौर पर सवर्ण समुदाय के लोगों में वंचित समुदाय के प्रति घृणा का भाव संस्कार और आदत का रूप ले चुका है जिससे उनकी भाषा और आम बोलचाल-आचरण भी बुरी तरह दूषित हो चुका है. (समुदायों के बीच समानता और पारस्परिक सम्मान विकसित करने की राह में यह कितनी बड़ी बाधा है, इसका सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है.)

इन कदमों का बेहद सकारात्मक पक्ष भी हम आसानी से रेखांकित कर सकते हैं. कुछ ही क्षेत्र में सही इन वंचित समुदायों की उपस्थिति और सक्रिय भागीदारी के कारण (ब्राह्मणवादी समाज-व्यवस्था के कारण आई) भारतीय समाज की जड़ता टूटी और उसमें एक परिवर्तनकारी गतिशीलता देखी जा सकती है. इन समुदायों के बीच से सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक-सांस्कृतिक तथा बौद्धिक क्षेत्र में सक्रिय, तेज-तर्रार,

आत्म-सम्मान से लैस युवाओं की नई पीढ़ी सामने आई है- इनमें अच्छी-खासी संख्या इन समुदायों से आई युवतियों की है जो इस उपलब्धि को और भी मूल्यवान बना देती है. उच्च शिक्षा के क्षेत्र में इन समुदायों के युवाओं के कदम रखते ही उच्च शिक्षा-संस्थानों की जड़ता टूटने लगी है और उनमें भी एक सामाजिक-परिवर्तनकारी गतिशीलता दिखाई देने लगी है.

इसलिए सवाल इन कदमों को और गहराई तथा विस्तार देने की है. इसका मतलब तो सर्वप्रथम यह है कि प्राप्त अधिकारों और प्रावधानों का कारगर क्रियान्वयन तथा इस क्रियान्वयन के लिए पारदर्शी, जवाबदेह और जिम्मेवार प्रणाली की स्थापना- यह सुशासन की आवश्यक शर्त है. कहने की जरूरत नहीं कि लम्बे समय तक प्रशासनिक मशीनरी पर सवर्ण वर्चस्व के कारण (जो अब भी काफी हद तक कायम है) सरकारी सेवाओं तथा उच्च शिक्षा के क्षेत्र में आरक्षण के प्रावधानों को लागू करने में न सिर्फ अनिच्छा रही है, बल्कि पर्याप्त मात्रा में उसमें बाधा डालने, फर्जीवाड़ा करने, बैकलॉग बनाये रखने, 'योग्य' उम्मीदवार न मिलने का बहाना बनाकर उसे पुनः अनारक्षित श्रेणी में डाल देने, आदि की शिकायतें काफी आम रही है. इसके अलावा, ऐसे उम्मीदवारों को परेशान तथा प्रताड़ित किये जाने के कारण वंचित समुदायों के कई प्रतिभाशाली युवाओं को आत्महत्या तक का कदम उठाना पड़ा है (जिसे दरअसल सांस्थानिक हत्या ही कहा जा सकता है).

डिजिटल युग में आरक्षण को केन्द्र कर एक पारदर्शी सूचना-केन्द्र भी अब तक विकसित नहीं किया गया है- एक ऐसा केन्द्र जहां कोई भी आरक्षण से सम्बन्धित सारी सूचनाएं हासिल कर सके. इन समुदायों से सम्बन्धित आयोगों के पास भी इस तरह का कोई सूचना-केन्द्र नहीं है. (जाति-जनगणना के आंकड़ें भी अब तक जारी नहीं किये गये हैं.) सूचनाओं के अभाव में न सिर्फ वंचित समुदाय के युवाओं को वास्तविक स्थिति की जानकारी नहीं हो पाती, उन्हें दर-दर भटकना और अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है, बल्कि वर्चस्वशाली समुदाय को भी अनर्गल अफवाह फैलाने तथा दुष्प्रचार का मौका मिलता है.

प्राप्त अधिकारों के कारगर कार्यान्वयन से आगे जाकर सामाजिक आन्दोलन की कुछ मांगें लम्बे समय से लंबित हैं; जैसे, आरक्षण की सीमा बढ़ाकर 69% करना; निजी क्षेत्र में आरक्षण का प्रावधान लागू करना; वंचित समदायों, खासकर महिलाओं, दलितों और

आदिवासियों पर हिंसक हमलों तथा जनसंहारों के मामलों का त्वरित निष्पादन और कठोर दण्ड की व्यवस्था; प्रमोशन में आरक्षण का प्रावधान; वंचित समुदायों के लिए गठित आयोगों को और अधिक अधिकार-सम्पन्न करना; आर्थिक क्रियाकलापों में उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना और इसके लिए गठित निगमों की आबंटित राशि में पर्याप्त वृद्धि करना; पृथक शिक्षण तथा प्रशिक्षण संस्थाओं का गठन करना, तथा उच्च शिक्षा-संस्थानों में इन छात्रों के शोध-अनुसंधान को विशेष वित्तीय और अधिसंरचनात्मक सुविधाएं प्रदान करना; इन समुदाय के नायकों, उनके इतिहास तथा उनके सामाजिक आन्दोलनों को पाठ्य-पुस्तकों और सामाजिक जीवन में पर्याप्त स्थान देना; आदि. न्यायपालिका, मीडिया, विज्ञान-तकनीक, कला-संस्कृति, उद्यम-व्यवसाय के क्षेत्र में इन वंचित समुदायों की उपस्थिति अन्यन्त सीमित है, इसीलिए आगे के दौर में इन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में इन समुदायों की समुचित भागीदारी सुनिश्चित करना सामाजिक आन्दोलन के समक्ष भारी चुनौती होगी. कुल मिलाकर, सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में इन समुदायों की सक्रिय, सचेत भागीदारी ही सदियों पुरानी भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ने, उसमें एक परिवर्तनकारी गतिशीलता की लहर पैदा करने, भारतीय समाज की अन्तर्निहित सृजनात्मकता को उन्मुक्त करने, समुदायों के बीच समानता और सम्मान का सम्बन्ध विकसित करने, अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने तथा कालक्रम में जाति के खात्मे का मार्ग प्रशस्त करेगी.

मनुवाद के नये संस्करण का कारगर जवाब सामाजिक न्याय का नया संस्करण ही हो सकता है.

कहा जाता है कि जाति-आधारित आरक्षण के कारण जातिवाद काफी बढ़ गया है और यह सामाजिक ताने-बाने को अराजकता की हद तक ले जाकर क्षत-विक्षत कर रहा है जिससे भारत की सामाजिक-आर्थिक प्रगति बाधित हो रही है. घटनाओं के चुनिन्दा संकलन तथा उसको बार-बार दुहराने के जरिये दरअसल वर्चस्वशाली मीडिया आरक्षण को केन्द्र कर ऐसी ही छवि बनाने में लगा है, ताकि आरक्षण बनाम'योग्यता' का बहस चलाकर तथाकथित 'योग्यता' के पक्ष में आरक्षण को येन-केन-प्रकारेण कमजोर करने का माहौल बनाया जा सके. 'जातिवाद काफी बढ़ गया है' कहनेवाले प्रायः ऐसे उग्र जातिवादी तत्व ही हैं जिन्हें जातिवाद के बढ़ने से उतनी चिन्ता नहीं, जितना सामाजिक जीवन में वंचित समुदायों की बढ़ती भागीदारी और दावेदारी से.

मानवजाति चूंकि समुदायों में बंटी है, इसीलिए राजनीतिक संघर्षों, खासकर चुनावों के दौरान समुदाय-आधारित गोलबंदी (दुनिया भर में) कोई नई बात नहीं है. वैसे प्रायः सभी जातियों के लोग कमोबेश अनेक दलों और विचारधाराओं में बंटे होते हैं, इसीलिए किसी एक दल के पक्ष में किसी समुदाय या समुदायों के गठबंधन की शत-प्रतिशत गोलबंदी (कुछेक अपवादों या असाधारण स्थितियों को छोड़कर) शायद ही संभव हो पाती है. जो लोग 'जातिवाद के उभार' से परेशान दिखते हैं, उन्हें 'उच्च' जातियों के अस्सी फीसदी का किसी एक गठबंधन को वोट देना गलत नहीं लगता, लेकिन वंचित समुदायों की 40, 50 या 60 प्रतिशत गोलबंदी भी 'जातिवादी उभार'के रूप में नागवार लगती है.

समुदायों की इस राजनीतिक गोलबंदी और तीखे संघर्षों के बीच हम इस बात पर ध्यान केन्द्रित करते हैं कि कौन सा दल या दलों का गठबंधन वंचित समुदायों की मांगों और हितों को आगे बढ़ाता है, कौन वंचित समुदायों की राजनीतिक गोलबंदी का प्रयोग कर सत्ता हासिल करने के बाद (उनके अधिकारों का भले विरोधी न हो पर) खुद सत्ता में बने रहने के लिए अवसरवादी समझौतों में लिप्त होकर वंचितों के हित में कदम उठाने से परहेज करता है, और कौन सामयिक रूप से उनकी राजनीतिक गोलबंदी का उपयोग कर सत्ता हासिल करने के बाद उन्हें अपने अर्जित अधिकारों से भी वंचित कर उग्र राष्ट्रवादी या धार्मिक उन्मादी क्रियाकलापों की ओर मोड़ देना चाहता है. कुल मिलाकर, समुदायों की बहुलता वाले हमारे देश में यह राजनीतिक संघर्ष लम्बे समय तक चलता रहेगा.

कोई चीज जब स्थायित्व ग्रहण कर लेती है तो हर कोई उसका लाभ उठाना चाहता है. आरक्षण के साथ भी यही बात है. दलितों-आदिवासियों-पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण की संवैधानिक व्यवस्था जैसे-जैसे हमारे सामाजिक जीवन का स्थायी अंग बनती गई, वैसे-वैसे आरक्षण से वंचित दबंग समुदाय भी इस प्रक्रिया का अंग बनने की कोशिश करने लगे. (यह अलग बात है कि ऐसी कुछ वंचित जातियां भी हो सकती हैं जो आरक्षित जातियों की सूची से बाहर रह गई हों, और जो इसको लेकर आन्दोलनरत हों. यहां हम इन समुदायों की बात नहीं कर रहे हैं.) आरक्षण के क्रियान्वयन में बाधा उपस्थित करना, फर्जीवाड़ा करना, अपनी राजनीतिक-प्रशासनिक स्थिति का फायदा उठाकर उसे स्थगित करना, आदि, आदि- इन सब के अलावा, कुछेक दबंग समुदायों द्वारा खुद को पिछड़ा वर्ग या अनुसूचित जनजाति घोषित कर अपने लिए पृथक आरक्षण के लिए उग्र हिंसक आन्दोलन का सहारा लेना, और इन आन्दोलनों को पहले हवा देकर

और फिर उनकी पृष्ठभूमि में आरक्षण के संवैधानिक प्रावधान को ही बदल देने या कमजोर करने की कोशिश करना, अन्ततः आर्थिक आधार पर सवर्ण जातियों के लिए चौदह या दस प्रतिशत आरक्षण सुनिश्चित करवा लेना- वंचित समुदायों के सामाजिक न्याय के आन्दोलन के खिलाफ न्याय-विरोधी शक्तियों और दलों के इन प्रयासों ने हाल के वर्षों में काफी आक्रामक रूप ग्रहण कर लिया है. (एक बार इस तरह की व्यवस्था कर देने के बाद, किसी भी दल के लिए उन्हें वापस लेना कितना मुश्किल होगा, इसे इस तरह की शक्तियां भली-भांति जानती हैं.)

दूसरी तरफ, यह भी सही है कि आरक्षण की व्यवस्था लागू होने के बाद से विभिन्न प्रदेशों में आरक्षण का लाभ उठानेवाली कुछ बड़ी जातियों तथा अतिपिछड़ी और दलित जातियों के बीच खाई चौड़ी हुई है (इसका एक कारण तो यह है कि ऐतिहासिक रूप से विभिन्न जातियों की तुलनात्मक सामाजिक स्थिति में फर्क रहा है). वैसे इन बड़ी जातियों और अन्य जातियों के बीच राजनीतिक गोलबंदियों के आरम्भिक दौर से ही खट्टा-मीठा सम्बन्ध रहा है. इस पृष्ठभूमि में, अतिपिछड़े तथा कुछ दलित तबके आरक्षण के प्रावधान में भी अपने लिए अलग हिस्सा सुरक्षित कर लेना चाहते हैं. (यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न हिस्सों में इन बड़ी जातियों की उपस्थिति और भागीदारी अब भी काफी कम है, इसलिए उनके लिए आरक्षण की जरूरत लम्बे समय तक बनी रहेगी.) फिर भी आरक्षण तथा सकारात्मक कदम उठाने के क्रम में उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रखना अपेक्षित है. यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कोई कानून बनने (वह भी शिक्षा तथा रोजगार के क्षेत्र में) और सामाजिक रूप से उसके धरातल पर उतरने में तथा उसकी सामाजिक उपलब्धि दिखने में काफी वक्त लगता है. इस लिहाज से हम, खासकर उत्तर भारत में प्राथमिक अवस्था में ही हैं.

(ञ) जातियों के खात्मे का एक रास्ता धर्मान्तरण का भी है. हिन्दू धर्म का परित्याग कर एक ऐसे धर्म को अपनाना जिसमें जाति-प्रथा न हो. इस संदर्भ में निम्नलिखत तथ्यों पर गौर करना चाहिए :

1. समुदायों का किसी धर्म या पंथ/सम्प्रदाय से रिश्ता ऐतिहासिक रूप से विकसित होता है और कालक्रम में वह उनके रोजमर्रे के जीवन का आवयविक अंग बन जाता है. उसके साथ सम्बन्ध विच्छेद आसान नहीं होता. एक बार जीवन का आवयविक अंग बन जाने

के बाद वह उन्हें अन्य अनेक सम्बन्धों, क्रियाकलापों तथा कर्मकाण्डों-मिथकों के साथ जोड़ देता है.

2. जहां इस बात के उदाहरण मिलते हैं कि उत्पीड़ित समुदाय अनेक अवसरों पर अपने उत्पीड़कों के खिलाफ बगावत के रूप में उत्पीड़कों के धर्म/पंथ/सम्प्रदाय से भिन्न धर्म/पंथ/सम्प्रदाय अपना लेते हैं या फिर किसी नये धर्म-पंथ-सम्प्रदाय की नींव रखते हैं, वहीं इतिहास में इस बात के भी पर्याप्त प्रमाण हैं कि विद्रोहों और टकरावों के बावजूद उत्पीड़क और उत्पीड़ित एक ही धर्म-पंथ-सम्प्रदाय में बने रहते हैं. भारत में ही कुछ हद तक विभिन्न अंचलों में दोनों तरह के उदाहरण कमोबेश देखे जा सकते हैं. एक ही पंथ-सम्प्रदाय के अन्दर शासक-शासित, उत्पीड़क-उत्पीड़ित प्रायः एक-दूसरे के साथ मिली-जुली अवस्था में लम्बे काल तक बंधे रहते हैं. अमेरिका में दास और दास मालिक, अफ्रीका में रंगभेद/नस्लवाद के शिकार और उस पर अमल करनेवाले एक ही पंथ-सम्प्रदाय से जुड़े रहे, भले ही अफ्रीकी तथा अफ्रीकी-अमेरिकी समुदायों ने अपने लिए कुछ खास चर्च कायम कर लिए. (यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि ईसाई मत के साथ अफ्रीकी जनों के जुड़ाव के पीछे बड़ी भूमिका औपनिवेशिक काल के जबरन धर्मान्तरण की भी थी.) दासों के विद्रोह, गृहयुद्ध, नागरिक अधिकार आन्दोलन, तथा छिटपुट धर्मान्तरण की घटनाओं के बावजूद अफ्रीकी-अमेरिकी अब भी कमोबेश ईसाई मत के साथ ही जुड़े हैं. दक्षिण अमेरिकी देशों में देशज आबादी के साथ भी यही बात है. वहां ईसाई मत के भीतर ही'लिबरेशन थियोलॉजी' का विकास हुआ जिससे कई प्रमुख पादरी भी जुड़े थे.

3. हिन्दू धर्म मूलतः एक विकेन्द्रित धर्म रहा है जिसमें देवी-देवताओं, रीति-रिवाजों, कर्मकाण्डों, आदि की पर्याप्त विविधता रही है (हालांकि इसे भी एक केन्द्रीकृत धर्म में बदलने की पुरजोर कोशिश की जा रही है). समय-समय पर इसके अन्दर भी कई सुधार आन्दोलन चलते रहे हैं जिसमे जाति-प्रथा का विरोध प्रमुख विषय रहा है और इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप विभिन्न अंचलों में अनेक सम्प्रदाय भी बनते रहे हैं. अनेक प्रमुख देवी-देवताओं के साथ, उनके मिथकों के साथ शूद्र कृषक जातियों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और यह सब इन जातियों के रोजमर्रे के जीवन, कर्मकाण्ड, किस्सों-मुहावरों का अंग बन गया है. दरअसल, हिन्दू धर्म के कायम रहने में सबसे अहम् भूमिका इसकी इसी विकेन्द्रीयता की, तथा इन्हीं शूद्र कृषक-कारीगर-सेवक जातियों की रही है.

अगर हम विभिन्न जातियों के रोजमर्रे के कर्मकाण्डीय जीवन, उनकी बोलचाल,रहन-सहन, आदि को गौर से देखें तो हमें इसका सहज ही अंदाजा लग जाएगा.

साथ ही, हिन्दू मतावलम्बियों की कुल आबादी को ही नहीं, बल्कि प्रमुख शूद्र जातियों की आबादी को ध्यान में रखिये. इन जातियों की आबादी यूरोप और दुनिया के अनेक देशों की आबादी के बराबर है.

4. भारतीय कृषि समाज में जाति-प्रथा ने इतनी गहरी जड़ें जमा ली हैं कि धर्मान्तरण के बावजूद दलित जातियों को अपने नये धर्म में भी जातीय भेदभाव का सामना करना पड़ता है. यही कारण है कि इस्लाम और ईसाई धर्म अपनाने वाले दलित समुदायों को भी इन भेदभावों के खिलाफ आन्दोलन करना पड़ रहा है और अपने लिए आरक्षण की मांग करनी पड़ रही है. पिछड़े वर्गों की सूची में भी कई जातियां दूसरे धर्मों के पिछड़े समुदायों की हैं.

पिछले कुछ दशकों में दलित आन्दोलन को कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक-सामाजिक उपलब्धियां हासिल होने के बावजूद बौद्ध धर्म में दलितों का धर्मान्तरण कोई आन्दोलन की शक्ल नहीं ले सका है और सांस्थानिक बौद्ध धर्म में नव-बौद्धों की हालत भी बेहतर नहीं कही जा सकती. धर्म परिवर्तन के बाद यह समुदाय सांस्थानिक बौद्ध धर्म का हिस्सा बन जाता है. बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक रूप से इस्लाम के साथ जो सम्बन्ध रहा है और हाल के दिनों में कुछ घटनाओं (खासकर बर्मा के रोहिंगिया मुसलमानों पर ढाये गये जुल्म) को ध्यान में रखें तो सवर्ण हिन्दुत्व की शक्तियों द्वारा सांस्थानिक बौद्ध धर्म को अपने पक्ष में कर लेने की प्रबल संभावना बनती है.

कुल मिलाकर, धर्मान्तरण की इन कोशिशों के बावजूद, तथ्य यह है कि दलित-पिछड़ी जातियों की विशाल बहुसंख्या हिन्दू धर्म का हिस्सा बनी रहेंगी. इसलिए इन मामलों में अपनी मनोगत सदिच्छाओं के आधार पर कार्यक्रम बनाने के बजाए, हमें वस्तुगत यथार्थ को ध्यान में रखकर समुदायों के बीच समानता और पारस्परिक सम्मान विकसित करने के उस कार्यक्रम को ही गहराई और विस्तार देना चाहिए जिसका हम पहले जिक्र कर चुके हैं.

# वर्तमान चुनौतियां

पिछले दो वर्षों से केन्द्र में जो आरएसएस-भाजपा की सरकार सत्तारूढ़ है, उसका लक्ष्य भारत को सवर्ण जातियों के वर्चस्ववाला हिन्दू राष्ट्रबनाना है- इस दिशा में वह सत्ता में आने के साथ ही अपने अनुषंगी संगठनों के साथ पूरे जोर-शोर से लगी हुई है. वह भाजपा को 2014 के आम चुनावों में मिले पूर्ण बहुमत का पूरा फायदा उठाना चाहती है. अनेक प्रदेशों में पहले से ही उसकी सरकारें बनी हुई हैं. स्वतंत्रता के बाद यह भारतीय राजनीति का एक नया दौर है.

यह पार्टी भारतीय समाज की ब्राह्मणवादी, पुरातनपंथी, अल्पसंख्यक खासकर मुस्लिम-विरोधी, विज्ञान-विरोधी, अनुदारवादी विचार-प्रथाओं और परम्परा की हिमायती है- न्याय के आन्दोलनों की परम्परा से, राष्ट्रीय आन्दोलन, सामाजिक आन्दोलन, नारी आन्दोलन, आदिवासी आन्दोलन, मजदूर-किसानों के आन्दोलन, आदि से उसका कोई रिश्ता-नाता नहीं रहा है, बल्कि वह ऐसे आन्दोलनों के विरोध में ही हमेशा खड़ी रही है. जनतांत्रिक संस्थाओं में उसकी आस्था नहीं है और अपने राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए तथा अपने पक्ष में ध्रुवीकरण को (खासकर चुनावों के वक्त) मूर्त रूप देने के लिए वह अफवाहों, दुष्प्रचारों, झूठ और घृणा के प्रचार, हिंसा, जनसंहार, आदि का सहारा लेने को तत्पर रहती है. इन कार्यों को अंजाम देने के लिए उसके पास अपने प्रशिक्षित स्वयंसेवक तथा पंचमांगी दस्ते हैं. अपने करीब 91 साल के सफर में आरएसएस ने देशव्यापी पैमाने पर स्वयंसेवकों की अपनी फौज खड़ी की है, और इसकी राजनीतिक शाखा- जनसंघ और भाजपा- ने गैर-कांग्रेसवाद के दौर में विभिन्न राजनीतिक गठबंधनों का हिस्सा बनकर उसका भरपूर लाभ उठाया है तथा विभिन्न दलों, संगठनों, संस्थाओं, आदि में महत्वपूर्ण सम्पर्क विकसित कर लिए हैं. समय-समय पर कांग्रेस के साम्प्रदायिक कदमों को भी आरएसएस का भरपूर समर्थन हासिल हुआ. न्याय की शक्तियों के बिखराव और अवसरवादिता की अवस्था में कांग्रेस के पतन का सबसे बड़ा राजनीतिक फायदा उठाने में इसे ही कामयाबी मिली है. बहरहाल, यहां हमारा इरादा इसके इतिहास में जाने का नहीं है. हम यहां इसके दो सालों के कामकाज का भी लेखा-जोखा नहीं रखने जा रहे.

आर्थिक क्षेत्र में यह कॉरपोरेट तथा विदेशी पूंजी को मुख्य चालक शक्ति मानती है और इस कॉरपोरेट-विदेशी पूंजी-आधारित विकास की राह में भारत की बहुसंख्यक अवाम- मजदूर, किसान, आदिवासी, और अन्य वंचित, अल्पसंख्यक समुदायों को प्रमुख बाधा के रूप देखती है. इस कॉरपोरेट-विदेशी पूंजी-आधारित 'राष्ट्र-निर्माण' के लिए वह इन समुदायों के अर्जित अधिकारों की बलि चाहती है. इस पूंजी-निवेश का मार्ग प्रशस्त करने के लिए पर्यावरण-संरक्षण तथा प्रदूषण-नियंत्रण कानूनों में ढील दी जा रही है.

नव-उदारवादी आर्थिक सुधारों का यह दूसरा दौर है. पहला दौर जहां उपभोक्ता क्षेत्र से सम्बन्धित था, वहीं दूसरा दौर उत्पादन के कारकों (फैक्टर्स- भूमि, श्रम तथा पूंजी) के क्षेत्रों से सम्बन्धित है. यह दौर किसानों और आदिवासियों से कॉरपोरेट घरानों के हाथों में जमीन के हस्तान्तरण का, तथाकथित श्रम 'सुधारों' के नाम पर मजदूरों के अधिकारों में कटौती करने तथा उन्हें कॉरपोरेट घरानों की मनमर्जी पर छोड़ देने का, सरकारी क्षेत्र के उपक्रमों, बैंक, बीमा कम्पनियों, आदि को विदेशी पूंजी के लिए खोलने, पूंजी बाजार के नियमन को ढीला करने तथा विदेशी पूंजी-निवेश को सुगम बनाने का दौर है. यह सब करने के लिए वह मजदूरों-किसानों-आदिवासी समुदायों को उनके बुनियादी अधिकारों से वंचित करने की दिशा में कदम बढ़ा चुकी है. (यहां याद रखना चाहिए कि अनेक आर्थिक-सामाजिक मामलों में उसकी तथा कांग्रेस की नीतियों में कोई खास फर्क नहीं है. इनमें से कई कदम कांग्रेस की सरकारों द्वारा उठाए गए कदमों का ही और भी आक्रामक रूप में जारी रूप हैं.)

अभिव्यक्ति की आजादी समेत आम जनवादी अधिकारों के प्रति इसका रवैया नकारात्मक है और इन अधिकारों पर लगातार हमले जारी हैं. सार्विक वयस्क मताधिकार के मामले में भी इसकी प्रतिगामी स्थिति इसके राज्य सरकारों द्वारा उठाये गये कदमों से समझी जा सकती है. एक ओर शिक्षा की अर्हता को जोड़ना और दूसरी ओर (मतदान को अनिवार्य कर) मतदान नहीं करने को दंडनीय अपराध घोषित करना- दोनों सार्विक वयस्क मताधिकार की मूल भावना का उल्लंघन है. गैर-जनतांत्रिक, गैर-संवैधानिक मार्ग अपनाने के उसके उतावलेपन की सूची इतनी लम्बी है कि उसका संक्षिप्त विवरण देना भी यहां संभव नहीं- पूर्ण बहुमत के बावजूद भूमि-अधिग्रहण के लिए बार-बार अध्यादेश का सहारा लेना, राष्ट्रपति शासन लगाने की तत्परता, विपक्षी प्रदेश सरकारों की राह में तरह-तरह से अड़चनें खड़ी करना, उसके मंत्रियों तथा नेताओं द्वारा

भड़काऊ भाषण देकर अपने सहयोगी संगठनों को हिंसक कार्रवाईयों के लिए उकसाना, शिक्षण-संस्थाओँ में पुलिस कार्रवाई और उनकी स्वायत्तता का हनन, छात्रों के आन्दोलनों को 'राष्ट्र-विरोधी' घोषित कर उनका  दमन, विरोधियों से अपने पंचमांगी दस्तों के जरिये निपटना, आदि, आदि, की यह सूची ही उसकी गैर-जनतांत्रिक मानसिकता का परिचय देने के लिए काफी है.

स्त्री-अधिकारों के प्रति इस दल का नजरिया ब्राह्मणवादी-पुरातनपंथी है. वह स्त्री-शरीर और स्त्री-मन के पितृसत्ताक नियमन की हिमायती है- यह नियमन इसके पंचमांगी दस्तों को स्त्रियों के खिलाफ शारीरिक हिंसा के लिए उकसाता है.

सामाजिक आन्दोलनों के जरिये वंचित समुदायों ने जो अधिकार हासिल किये हैं (खासकर आरक्षण का अधिकार), उसे कमजोर करने तथा आर्थिक आधार पर सवर्ण समुदायों को आरक्षण के दायरे में लाने पर यह शासक दल आमादा है. न्याय के आन्दोलनों में जहां कहीं भी छोटी-मोटी दरारें हैं, उन्हें चौड़ा करने में, इन आन्दोलनों के इतिहास में या वर्तमान में जो भी नायक उपेक्षित रह गये हैं या जो भी घटना हाशिये पर रह गई है या भुला दी गई है, उसे उभारने और उसका लाभ लेने में वह कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रहा है. अपने आक्रामक बहुसंख्यकवाद के हित में खासकर दलितों तथा अतिपिछड़ों के कुछ हिस्सों को अपने पक्ष में करने की उसने मुहिम छेड़ रखी है- मुस्लिम-विरोधी ध्रुवीकरण में वह इन समुदायों को गोलबंद कर अपने बहुसंख्यकवादी एजेंडे को आगे बढ़ाना चाहता है. कुछ ऐतिहासिक दलित-पिछड़े नायकों का वह दलित-पिछड़े नायक के रूप में नहीं, बल्कि 'मुस्लिम-विरोधी' नायक के रूप में उनका'पुनराविष्कार' कर रहा है.

भिन्न यौन रुझानों वाले समुदायों के प्रति वह समानता और सम्मान से पेश आना तो दूर, (ऐसे रुझानों को विकृति या बीमारी के रूप में चिह्नित कर) उन्हें दंडित करने या उनका 'इलाज'करने की हिमायत करता है.

स्वच्छता अभियान में भी इसके निशाने पर पर्यावरण-संरक्षण तथा प्रदूषण-नियंत्रण कानूनों का उल्लंघन करनेवाले कॉरपोरेट घराने और नगर-प्रशासन की अक्षमता नहीं, बल्कि आम मेहनतकश समुदाय है. पर्यावरण-संरक्षण तथा प्रदूषण-नियंत्रण कानूनों को सख़्त बनाना और उनका सख़्ती से पालन सुनिश्चित करना, नगर-निकायों की वित्तीय हालत सुधारना, नगर-निकाय के कर्मचारियों (जिनमें से अधिकांश मानदेय पर काम

करते हैं, और इस मामूली मानदेय का भुगतान भी कई-कई महीनों बाद किया जाता है) के वेतनमान, सेवाशर्तों तथा जीवन-स्थितियों में सुधार, सफाई के कार्य में आधुनिक मशीनों का प्रयोग, कचरा-प्रबंधन की आधुनिक प्रविधि का इस्तेमाल, आदि (जिन्हें केन्द्र या राज्य सरकारें ही कर सकती हैं, कोई व्यक्ति या संगठन नहीं) की जगह आम मेहनतकश लोगों, खासकर मेहनतकश महिलाओं को गंदगी के लिए जिम्मेवार ठहराना दरअसल उनका घोर अपमान है और मेहनतकशों के प्रति ब्राह्मणवादी नजरिये का ही प्रमाण है.

विदेश नीति के क्षेत्र में यह शासक वर्ग अमेरिका के साथ सामरिक गठबंधन में बंधने की ओर निर्णायक कदम बढ़ा चुका है.

बहरहाल, इसका सबसे खतरनाक कार्यक्रम अल्पसंख्यक समुदायों (खासकर मुसलमानों) को लेकर है. इस समुदाय के प्रति इसका रवैया शत्रुतापूर्ण है. यह दल मुस्लिम समुदाय के खिलाफ निरन्तर दुष्प्रचार करने, अफवाह फैलाने तथा विभिन्न उपायों से उसके खिलाफ हिंसा भड़काने की जुगत में रहता है. अपने आक्रामक बहुसंख्यकवाद के तहत वह इस समुदाय के खिलाफ (खासकर चुनाव के समय और आम तौर पर हमेशा) ध्रुवीकरण की कोशिश में लगा रहता है.

सेक्युलर जनतांत्रिक देशों में भी बहुसख्यक समुदाय का सदस्य होना उसकी नागरिकता में अतिरिक्त मूल्य जोड़ देता है- इस मूल्य-संवर्धित नागरिकता के अपने फायदे तो हैं ही. सत्ता और सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, इस समुदाय की उपस्थिति और भागीदारी वैसे ही काफी कम रही है. इस शासक दल का उद्देश्य तो उसे इस भागीदारी से वंचित कर उसे दोयम दर्जे के नागरिक की स्थिति में धकेल देना है.

इस समुदाय के खिलाफ चलाये जा रहे दुष्प्रचार और आक्रामक बहुसंख्यकवाद का इस दल को फायदा भी हुआ है- हिन्दू मन (खासकर हिन्दू युवा मन) के साम्प्रदायीकरण में उसे कुछ हद तक कामयाबी मिली है, समय-समय पर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण में भी वह विभिन्न क्षेत्रों में सफल हुआ है. उसके आक्रामक बहुसंख्यकवाद के सामने अन्य प्रमुख दलों ने भी कमोबेश रक्षात्मक रवैया अपना लिया है और ध्रुवीकरण की संभावना से आशंकित होकर इस समुदाय को उनके वाजिब हक देने और उनके पक्ष में सकारात्मक कदम उठाने से वे या तो परहेज करते हैं या आनाकानी करते हैं. ऐसी स्थिति में इस सरकार ने मुस्लिम समुदाय की जिस तरह घेराबंदी की है, उससे इस समुदाय के,

खासकर उसके युवाओं के खुद अपने ही देश में पराया अनुभव करने के मनोभाव (एलिएनेशन) को समझा जा सकता है. भारतीय समाज के इस महत्वपूर्ण घटक का यह परायापन इस समाज को दूरगामी तौर पर न सिर्फ कमजोर करेगा, बल्कि उसे एक खतरनाक विघटन की ओर ले जाएगा. जाहिर है, यह समस्या आज नहीं पैदा हुई है, लेकिन इसने आज गंभीर रूप धारण कर लिया है. आतंक के खिलाफ युद्ध के नाम पर विश्वव्यापी पैमाने पर मुस्लिम समुदाय के खिलाफ जो माहौल बनाया जा रहा है, उस पृष्ठभूमि में यह और भी गंभीर हो गया है. अमेरिका, फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, ब्रिटेन, आदि अनेक देशों में अपनी सहोदर शक्तियों के आक्रामक उत्थान से इस दल को काफी बल मिला है.

बहरहाल, इस बहुसंख्यकवाद की काट न्याय की शक्तियों की एकजुटता में है- जहां ये शक्तियां सामान्य रूप में भी एकजुट रहीं, वहां इन विघटनकारी शक्तियों को मुंह की खानी पड़ी है. आक्रामक बहुसंख्यकवाद के जरिये जहां संभव हो, वहां जनतांत्रिक रास्ते ही लाभ उठाना, और जहां संभव न हो वहां गैर-जनतांत्रिक, गैर-संवैधानिक तरीकों का सहारा लेना- यह इस दल की नीति रही है. बहरहाल, भारतीय समाज की विविधता, समाज में न्याय की प्रचलित परम्परा, आदि इन शक्तियों का क्या भविष्य तय करती है, यह हम नहीं जानते. लेकिन इन शक्तियों के पराभव को स्वतःस्फूर्तता पर नहीं छोड़ा जा सकता.

कुल मिलाकर, ऊपर हमने अन्याय के जिन प्रमुख रूपों का जिक्र किया है, वर्तमान शासक दल उन सभी रूपों की हिमायती है और इसने वंचित समुदायों, वर्गों, आदि के अर्जित अधिकारों को कमजोर करने और उसे खत्म करने की दिशा में कदम उठाना शुरु कर दिया है. यह स्थिति न्याय की सभी शक्तियों की एकजुटता का वस्तुगत आधार प्रदान करती है. न्याय की सम्मिलित ताकत के जरिये ही इस विभाजनकारी, कॉरपोरेट-विदेशी पूंजी-परस्त, सवर्ण ब्राह्मणवादी हिन्दुत्व की शक्तियों को शिकस्त दी जा सकती है. अधिकारों की वापसी अथवा उन्हें कमजोर किया जाना आन्दोलनों की स्थिति की बहाली है. सवाल इन आन्दोलनों का एक साझा नेतृत्व-केन्द्र विकसित करने का है.

(अप्रैल-मई, 2016)